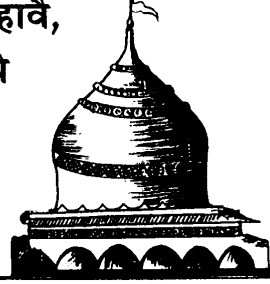
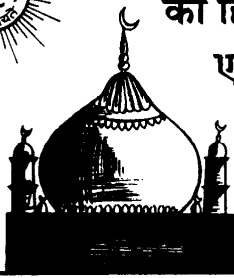




सद्गुरवे नमः

को हिन्दू को तुरुक कहावै,
एक जिमी पर रहिये

—सन्त कबीर



पारव प्रकाश

सब ते लघुता भली, लघुता से सब होय।

जस दुतिया को चन्द्रमा, सीस नावै सब कोय ॥ बीजक, साखी 323 ॥

वर्ष 45]

इलाहाबाद, चैत्र, वि. सं. 2073, अप्रैल 2016, सत्कबीराब्द 617

[अंक 4

हरिजन हंस दशा लिये डोले, निर्मल नाम चुनी चुनि बोले ॥ 1 ॥
मुक्ताहल लिये चोंच लोभावै, मौन रहे कि हरि यश गावै ॥ 2 ॥
मान सरोवर तट के बासी, राम चरण चित अन्त उदासी ॥ 3 ॥
कागा कुबुधि निकट नहिं आवै, प्रतिदिन हंसा दर्शन पावै ॥ 4 ॥
नीर क्षीर का करे निबेरा, कहहिं कबीर सोई जन मेरा ॥ 5 ॥

x

x

x

राम नाम भजु राम नाम भजु, चेति देखु मन माहीं हो ॥ 1 ॥
लक्ष करोरि जोरि धन गाड़े, चलत डोलावत बाँही हो ॥ 2 ॥
दादा बाबा औ परपाजा, जिन्ह के यह भुइँ भाँड़े हो ॥ 3 ॥
आँधर भये हियहु की फूटी, तिन्ह काहे सब छाँड़े हो ॥ 4 ॥
ई संसार असार को धन्धा, अन्तकाल कोइ नाही हो ॥ 5 ॥
उपजत बिनसत बार न लागे, ज्यों बादर की छाँही हो ॥ 6 ॥
नाता गोता कुल कुटुम्ब सब, इन्ह कर कौन बड़ाई हो ॥ 7 ॥
कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़ी सब चतुराई हो ॥ 8 ॥

धर्म क्या है?

धर्म के संबंध में सद्गुरु कबीर ने एक बड़ी सुंदर पंक्ति कही है—

सदा धर्म जाके हृदया बसई।
राम कसौटी कसतहि रहई॥

जिसके हृदय में सदैव धर्म बसता है वह अपने आपको निरंतर 'राम कसौटी' में कसता रहता है। 'धर्म' और 'राम कसौटी' इस पंक्ति में ये दो बड़े महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। इन दोनों पर थोड़ा विचार करें।

धर्म क्या है? 'धर्म' शब्द आते ही लोगों के मन में एक विचित्र प्रकार की धारणा घर कर जाती है। कहीं आप कहें कि मैं आप लोगों के बीच धर्म की चर्चा करना चाहता हूँ तो लोगों के मन में तुरंत शंका होगी कि पता नहीं ये किस धर्म की चर्चा करना चाहते हैं। हिन्दू धर्म की, मुसलमान धर्म की, बौद्ध-जैन धर्म की या और अन्य धर्मों की। बिना विशेषण के लोग धर्म को समझने का प्रयास नहीं करते। धर्म शब्द आते ही कोई न कोई विशेषण लगाकर लोग उसे समझना चाहते हैं। यदि विशेषण रहित धर्म को समझ लें तब तो सारे झगड़े ही समाप्त हो जायेंगे। फिर तो सर्वत्र शांति का ही साम्राज्य हो जाये।

धर्म के आगे जब भी कोई विशेषण लगाया जाता है तब गड़बड़ी हो जाती है। फिर हम वास्तविकता से दूर हट जाते हैं। धर्म के आगे जहां हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, बौद्ध, जैन, पारसी, सिक्ख या अन्य और कोई भी शब्द लगाये बस धर्म लुप्त हो गया। फिर हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध आदि ही रह गये। धर्म के आगे लगने वाले सारे विशेषण झूठे हैं और लोगों को बांटने वाले हैं। ये सारे विशेषण किसी देश-काल में बने हैं और एक समय ऐसा भी आयेगा जब ये सारे के सारे विशेषण धर्म के आगे से हट जायेंगे और कोई दूसरा विशेषण आ जायेगा।

इसीलिए यदि सच्चे धर्म को समझना चाहते हैं तो धर्म के आगे लगे हुए जितने भी विशेषण हैं उनको हटा दें

और तब धर्म की व्याख्या करें तभी सच्चे धर्म को सही ढंग से समझ पायेंगे।

यदि बिना विशेषण के धर्म को समझने में कमी का अनुभव होता हो, कोई न कोई विशेषण लगाकर ही धर्म को समझना चाहते हों तो ऐसा विशेषण लगायें जो सर्वमान्य हो। बिना विशेषण के मन न माने तो आप धर्म के आगे 'मानव' विशेषण लगा लीजिये, फिर कोई गड़बड़ी नहीं होगी और यदि इसको हटाकर कोई दूसरा विशेषण लगायेंगे तो गड़बड़ी शुरू हो जायेगी।

धर्म वह है जो सब देश में सब काल के सभी मनुष्यों पर लागू होता हो। जो किसी पर लागू होता हो और किसी पर लागू न होता हो वह धर्म नहीं है। जो किसी समय लागू हो और किसी समय लागू न हो वह भी धर्म नहीं है। जिसकी आवश्यकता सबको हर समय हर जगह हो वही धर्म है। जिस भाव और आचरण से अपना मन अशान्त, उद्विग्न और पीड़ित हो तथा दूसरों को भी अशांति एवं पीड़ा मिले वह अधर्म है और जिस भाव एवं आचरण से अपना मन शांत-प्रसन्न हो तथा दूसरों को भी शांति-प्रसन्नता मिले वह धर्म है।

हम इसको एक उदाहरण से समझें। क्रोध करने से हमारा मन पीड़ित, चंचल और अशांत होता है। यदि मैं क्रोध करता हूँ तो उद्विग्न हो जाऊंगा, मेरा मन अशांत हो जायेगा, मेरा विवेक, सोचने-समझने की शक्ति नष्ट हो जायेंगे। केवल मैं ही नहीं जो भी क्रोध करेगा उसकी दशा ऐसी ही होगी। इसके साथ ही मेरे क्रोध से, क्रोधपूर्ण वाणी-व्यवहार से दूसरों को भी पीड़ा-अशांति मिलेगी। इसलिए क्रोध करना अधर्म है और क्षमा, प्रेम, करुणापूर्ण वाणी-व्यवहार धर्म है क्योंकि इससे सबको शांति-प्रसन्नता मिलती है। नियम सबके लिए एक समान है।

किसी देश का, किसी काल का, और किसी मत-मजहब का आदमी हो जो क्रोध करेगा उसका मन अशांत होगा ही। दूसरी तरफ किसी देश और किसी काल का आदमी हो यदि वह दूसरों के साथ सहृदयता एवं प्रेम पूर्वक व्यवहार करता है, दया-करुणा-क्षमा और सहिष्णुता का व्यवहार करता है तो उसके मन में शांति आयेगी। उसका मन शीतल होगा, मन में प्रसन्नता आयेगी। आदमी कैसी पूजा करता है, कैसा पाठ करता है, हवन करता है कि नहीं करता, मन्दिर जाता है या नहीं जाता है,

राम-रहीम कहता है या नहीं कहता है इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। जो भी क्षमा, दया, सहिष्णुता का व्यवहार करेगा उसके जीवन में शांति आयेगी ही आयेगी और यही वास्तविक धर्म है जो सबके लिए लागू होता है। इसीलिए पूज्यवर गुरुदेव श्री अभिलाष साहेब जी प्रायः कहा करते थे—“अपने पर संयम और दूसरों के लिए कोमलता का व्यवहार यही धर्म है।”

इसे कोई इंकार नहीं कर सकता। दूसरों के साथ क्रूरता का व्यवहार करना चाहिए यह कौन कहेगा? मैं नहीं चाहता हूँ कि कोई दूसरा मेरे साथ क्रूरता का व्यवहार करे किन्तु मैं चाहता हूँ कि लोग मेरे साथ कोमलता का व्यवहार करें और यही सब चाहते हैं तो यही तो धर्म है। इसकी आवश्यकता किसको नहीं है? किस देश के आदमी को नहीं है?

मनुस्मृति में धर्म का बड़ा सुन्दर और सार्वभौमिक लक्षण बताया गया है—

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

धैर्य, क्षमा, दम (मन पर संयम), अस्तेय (चोरी न करना), अंतर-बाहर की पवित्रता, इंद्रियनिग्रह, शुद्ध बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध—ये धर्म के दस लक्षण हैं। इन सदगुणों का आचरण ही सच्चा धर्म है। इन्हें कोई इंकार नहीं कर सकता। ये सबके लिए जरूरी हैं और सबके लिए सुखद एवं कल्याणप्रद हैं।

लेकिन लोग इस धर्म को कहां समझना चाहते हैं? जिन दुर्गुणों के त्याग से या जिन क्रियाओं के त्याग से चंचलता दूर होती हो, जीवन में स्थिरता आती हो, शांति आती हो और जिन गुणों के आचरण से, जिन कर्मों के आचरण से जीवन में शांति आती हो उन दुर्गुणों का त्याग और उन सदगुणों का ग्रहण एवं आचरण—यही धर्म है।

धर्म का एक अर्थ होता है स्वभाव। जैसे पानी की शीतलता पानी का स्वभाव है, और यही उसका धर्म है। आग की गरमी आग का स्वभाव है और यह उसका धर्म है। ऐसा नहीं है कि पानी किसी के लिए शीतल होता है और किसी के लिए गरम होता है। आग किसी के लिए ठंड होती है और किसी के लिए गरम होती है। आग को जो कोई भी छुवेगा उसका हाथ जलेगा ही क्योंकि जलाना उसका धर्म और स्वभाव है।

ऐसे ही मनुष्य का स्वभाव क्या है? वैसे तो कहा जाता है कि जीव मात्र का स्वभाव ज्ञान है, क्योंकि हर चेतन में ज्ञान है कि यह करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए। ज्ञानपूर्वक कर्म करना और स्वभाव में जीना यह हमारा धर्म है। स्वभाव क्या है? एक स्वभाव संस्कारजनित होता है। जैसे किसी के लिए कहा जाता है कि उसका स्वभाव है जल्दी आवेश में आ जाना, उसका स्वभाव है शांत रहना। उसके जीवन में किसी एक गुण-दोष की अधिकता है। तो किसी में क्रोध की अधिकता है, तो किसी में लोभ की, किसी में उत्तेजना की अधिकता है, तो किसी में शांति की, सहन करने की अधिकता है, किसी में दान करने की अधिकता है। इसलिए कहते हैं कि वह क्रोधी स्वभाव का है, दानी स्वभाव का है, लोभी स्वभाव का है, शांत स्वभाव का है। लेकिन यह तो एक-एक गुण हुआ।

वास्तविक स्वभाव क्या है? स्वभाव का अर्थ होता है—स्व-भाव=अपना भाव। जिसका त्याग न किया जा सके और जिसको त्यागते ही जीवन में अशांति आ जाये, जिसको त्यागकर सुखपूर्वक जीवन जी नहीं सकते वह अपना स्वभाव है और इस अर्थ में कोई भी विकार हमारा स्वभाव नहीं हो सकता। जैसे कोई आदमी क्रोध करता है, तो क्रोध उसका वास्तविक स्वभाव नहीं है, क्योंकि कोई भी आदमी अपने असली स्वभाव का त्याग नहीं कर सकता और किसी का स्वभाव उसके लिए दुखदाई नहीं होता। किंतु हम प्रत्यक्ष देखते और अनुभव करते हैं कि क्रोध आने पर हर आदमी का मन अस्त-व्यस्त हो जाता है, अशांत-पीड़ित हो जाता है, उसका विवेक सुप्त हो जाता है और उस स्थिति में वह चौबीसों घंटे नहीं रह सकता। इसके विपरीत अक्रोध में, क्षमा में, गम खाकर, सहनशील बनकर वह पूरा जीवन आराम से, सुखपूर्वक रह सकता है। इसलिए क्रोध किसी का स्वभाव नहीं हो सकता, वह पर-भाव है। स्वभाव कभी दुखदाई नहीं होता, पर-भाव दुखदाई होता है।

कोई भी आदमी सुबह से शाम तक क्रोध में सुख पूर्वक जीवन नहीं जी सकता। एक क्षण के लिए क्रोध आता है और आदमी उतने में ही कितना विह्वल, अशांत एवं पीड़ित हो जाता है। क्या उस स्थिति में आदमी पूरा जीवन रह सकता है? लेकिन क्षमाभाव पूर्वक पूरे जीवन

को आराम से जीया जा सकता है। जो भी आदमी गम खाना, धैर्य रखना, क्षमा करना, सहन करना जानता है उसके जीवन में अशांति नहीं आयेगी। उसका मन पीड़ित नहीं होगा। यह क्षमा आदमी का स्वभाव है।

काम की वासना आती है तो आदमी कितना पीड़ित एवं विह्वल हो जाता है। क्या आदमी काम-वासना में पूरे जीवन को शान्ति से जी सकता है? संभव ही नहीं है। जो आदमी को विह्वल, अशांत, उद्विग्न, पीड़ित, चंचल करे, वह आदमी का स्वभाव नहीं हो सकता। गलत चिंतन से, गलत संग से, गलत बात सुनकर आदमी के मन में काम की वासना जगती है और कोई भी आदमी काम की वासना में पूरा जीवन नहीं जी सकता, लेकिन आदमी निष्काम होकर पूरे जीवन को आराम से जी सकता है, उसमें कोई कमी का अनुभव नहीं होगा। यह निष्कामता आदमी का स्वभाव है।

ऐसे ही जिसमें हम अपने जीवन को आराम से जी सकें वह हमारा स्वभाव है और वही हमारा वास्तविक धर्म है। जो एक के लिए धर्म होगा वह सब के लिए धर्म होगा। सच्चा धर्म सबके लिए एक होता है, अलग-अलग नहीं और वह सबके लिए सब जगह सब समय सुखद होता है।

सच्चे धर्म में किसी विशेषण की जरूरत नहीं है। धर्म के आगे जब कोई विशेषण लगाते हैं वहीं गड़बड़ी हो जाती है। जैसे हिन्दू के लिए 'हिन्दू' शब्द आदरणीय है लेकिन एक मुसलमान के लिए आदरणीय नहीं है। हिन्दुओं के लिए मंदिर में जाना, राम का नाम कहना, गंगा में नहाना, मूर्ति-पूजा करना धर्म है लेकिन मुसलमानों के लिए यह सब अधर्म है। मुसलमानों के लिए नमाज पढ़ना, हज करना, कुर्बानी करना, कुरान-शरीफ एवं हजरत मोहम्मद में विश्वास करना धर्म है, लेकिन हिन्दू के लिए यह सब करना अधर्म है। वह उसको धर्म मान ही नहीं सकता।

यह जो बाहरी कर्मकांड हैं, जिन्हें हम धर्म का रूप मान लेते हैं धर्म नहीं है। बाहरी कर्मकांड, उपासना पद्धति में अंतर रहेगा ही। इसमें कभी एकता नहीं होगी, सदैव अनेकता रहेगी किन्तु दया करना इसे कोई नहीं कहेगा कि यह हिन्दू के लिए उचित है और मुसलमान के लिए अनुचित है। हर व्यक्ति के अंदर दया है और वह अपने

लिए दया-करुणा का ही व्यवहार चाहता है। कोई आदमी नहीं चाहता कि दूसरे लोग मेरे साथ दया का व्यवहार न कर क्रूरता का व्यवहार करे या गलत व्यवहार करे।

जो स्वभाव होता है वह सबका एक जैसा होता है। जैसे आग कहीं भी होगी सदैव गरम ही होगी, पानी कहीं का भी होगा शीतल ही होगा। उसको हम बदल नहीं सकते। कुछ देर के लिए लगेगा कि बदल गया है लेकिन अंततः वैसे के वैसे ही होगा। यही धर्म है। यह जो धर्म है स्वभाव का धर्म, जीवन की निर्मलता का धर्म, पवित्र आचरण का धर्म—ये सभी देश के लोगों के लिए अनुकरणीय हैं, आचरण करने योग्य हैं। कबीर साहेब इसी धर्म की बात कहते हैं, “सदा धर्म जाके हृदया बसई, राम कसौटी कसतहि रहई।”

आत्मसंयम और पर-सेवा, दूसरों के साथ कोमलता का व्यवहार, सदाचार रूपी धर्म जिसके हृदय में बसता है वह आदमी अपने आप को सदैव राम कसौटी में कसता रहता है।

यह राम कसौटी क्या है? राम कसौटी कोई बाहर की कसौटी नहीं है। राम कसौटी अंतरात्मा की कसौटी है, अंतरात्मा की आवाज है। हम इस बात को परखें कि हमारा दिल क्या चाहता है। जो आदमी अपने दिल की आवाज को परख लेगा, अपने दिल की आवाज को सुन लेगा वह कभी किसी के साथ गलत व्यवहार नहीं कर सकता।

हम किसी के साथ गलत व्यवहार क्यों करते हैं? और कब करते हैं? जब हम अपने दिल की किताब को नहीं पढ़ते, अपने दिल की आवाज को नहीं सुनते। दूसरे की जगह हम अपने आप को रख कर देखें कि जो काम मैं दूसरों के साथ करने जा रहा हूँ, जो बात मैं दूसरों के प्रति कहने जा रहा हूँ यदि वही काम और वही बात दूसरे लोग मेरे साथ करें तो मुझे कैसे लगेगा? इस कसौटी में आदमी अपने को कस ले तो क्या किसी से गलत काम हो सकेगा? कोई आदमी क्या किसी को गलत बात कह सकेगा? गलत व्यवहार कर सकेगा।

हम स्वार्थ में, लोभ में, अहंकार में पड़ जाते हैं, क्षणिक उत्तेजना में पड़ जाते हैं बस अंतरात्मा की आवाज दब जाती है। जितना हमारा स्वार्थ और अहंकार बढ़ेगा उतना ही हमारी अंतरात्मा की आवाज दबती जायेगी।

लोभी, अहंकारी और स्वार्थी आदमी दूसरे की पीड़ा को समझ नहीं सकता क्योंकि वह अपनी पीड़ा को समझ नहीं

पा रहा है। अपनी पीड़ा को समझता तो दूसरों के साथ गलत व्यवहार कैसे करता, दूसरों को पीड़ा क्यों पहुंचाता।

इसीलिए कबीर साहेब कहते हैं कि अपने आप को राम की कसौटी में कसो। सदैव अपना उदाहरण हर जगह सामने रखो कि यह काम मेरे साथ होगा तो कैसे लगेगा? बस फिर कोई गलत काम नहीं होगा। यदि हम अपना उदाहरण सदैव आगे रखेंगे तो सद्गुणों के क्षेत्र में, कल्याण के क्षेत्र में दूसरों से सदैव आगे ही रहेंगे।

हर आदमी को एक बात का ख्याल अवश्य रखना चाहिए कि मकान, दुकान बनाने में, धन कमाने में, पूजा-पाठ करने, मंदिर-मस्जिद जाने में या अन्य कामों में भले मैं दूसरों से पिछड़ जाऊं, उनकी बराबरी न कर सकूँ, किन्तु सेवा करने में, संतोष रखने में, सहनशील होने में, दया-क्षमा करने में, सद्गुणों के आचरण में, ज्ञान-भक्ति-वैराग्य में मैं कभी किसी से नहीं पिछड़ूंगा, इसमें तो सदैव मैं सबसे आगे ही रहूंगा फिर देखिये अपने जीवन में कितनी शांति आती है और जिस घर-परिवार, गांव, समाज में हम रहते हैं वहां कितनी शांति आती है। लेकिन इस क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा नहीं करते। लोग सदैव भौतिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा करना चाहते हैं, वहां सबसे आगे बढ़ना और रहना चाहते हैं लेकिन भौतिक क्षेत्र में कितना भी आगे बढ़ जायें आपसे आगे कोई और दिखाई पड़ेगा ही। आगे बढ़ना ही है तो सद्गुणों के क्षेत्र में बढ़ें, धैर्य, सहनशीलता, दया, क्षमा, त्याग, वैराग्य के क्षेत्र में बढ़ें। यहां जो जितना आगे बढ़ेगा उसे उतनी ही शांति का अनुभव होगा और इसमें किसी के लिए कमी होगी ही नहीं।

मान लो हम किसी गांव में रहते हैं और हमारे पास एक सौ एकड़ जमीन हो यदि दूसरा हमसे स्पर्धा करके आगे बढ़ना चाहेगा तो क्या करेगा? वह अपनी जमीन बढ़ायेगा। कहां से बढ़ायेगा? रबड़ तो है नहीं कि उसे खींचा जा सके। वह अपनी जमीन बढ़ाने के लिए औरों की जमीन खरीदेगा। मान लो बीस आदमियों से जमीन खरीद लिया और खरीद करके अपने पास डेढ़ सौ एकड़ जमीन कर लिया तो हमसे आगे हो गया लेकिन उस डेढ़ सौ एकड़ जमीन को बढ़ाने के लिए बीस आदमियों को जमीन से बेदखल करना पड़ गया। उनकी जमीन को किसी भी ढंग से छीन लिया गया। वे तो हो गये बगैर जमीन के। भौतिक क्षेत्र में जब किसी के पास बढ़ेगा तो निश्चित ही किसी के पास घटेगा। कहीं ऊंचा टीला उठ

रहा है इसका अर्थ है कहीं न कहीं जमीन धंस रही है, कहीं न कहीं गड्ढा हो रहा है।

लेकिन सद्गुणों के क्षेत्र में ऐसा नहीं होगा। कोई आदमी कितना ही दयालु क्यों न हो जाये दूसरे आदमी को दयालु होने के लिए दया की कमी नहीं होगी। एक हजार आदमी वैराग्य धारण क्यों न कर लें दो-चार हजार आदमी और वैरागी होना चाहें तो वैराग्य की कमी नहीं होगी। इस क्षेत्र में कमी है ही नहीं। लेकिन यहां हम स्पर्धा नहीं चाहते, जहां किसी प्रकार की कमी नहीं है। जहां स्पर्धा करने में हर प्रकार से कल्याण है, शांति ही शांति है वहां हम पिछड़ जाते हैं। सोचते हैं कि हम त्याग नहीं करेंगे तो क्या होगा, हम सद्गुणों को धारण नहीं करेंगे तो क्या होगा? क्या दुनिया का काम रुक जायेगा हमारे बिना दया और त्याग के? हम यह नहीं सोचते कि मैं बड़ा मकान नहीं बनाऊंगा तो दुनिया का काम नहीं रुकेगा, मैं बड़ी फैक्टरी नहीं लगाऊंगा तो दुनिया का काम नहीं रुकेगा। यहां नहीं सोचेगा आदमी किन्तु जहां उसके जीवन का निर्माण है, जो केवल उसके लिए होता है वहां सोचता है।

हम अपने आप को राम कसौटी में कसें। राम कसौटी है अंतरात्मा की आवाज। अपने दिल की आवाज को समझना। जो अपने दिल की आवाज को समझ लेगा वह कभी कोई गलत काम नहीं करेगा। वह ऐसा कोई काम नहीं करेगा जिससे दूसरों को दुख-तकलीफ हो। सदैव वह सद्गुणों के क्षेत्र में, सेवा के क्षेत्र में, त्याग के क्षेत्र में आगे-आगे बढ़ता जायेगा।

इस प्रकार जिसके हृदय में सदैव धर्म का निवास होता है वह अपने आप को राम कसौटी में कसता है। धर्म का अर्थ है स्वभाव और राम कसौटी है अंतरात्मा की आवाज। दोनों दो नहीं एक ही है। हमारा स्वभाव क्या है? अपना भाव है सब समय निर्विकार-निर्मल रहना। जैसे हम तकलीफ नहीं चाहते हैं ऐसे किसी को तकलीफ न देना और यही अंतरात्मा की आवाज है।

इसलिए हम अपने स्वभाव में, सद्गुणों में जीवन जियें। अपने को उदाहरण स्वरूप रखकर यदि हम काम करते रहेंगे तो हमारे जीवन में शांति रहेगी और समाज की व्यवस्था अच्छी बनी रहेगी और लोगों के जीवन में भी शांति आयेगी।

—धर्मेन्द्र दास

‘वे ही शाहशाह हैं’

लेखक—देवेन्द्र दास

मन में प्रश्न उठा करता है कि बादशाह कौन? जिसके पास भारी फौज हो, जिसने अनेक प्रदेशों को विजित कर लिया हो, बहुत बड़े जन समाज को जिसने झुकने पर विवश कर दिया हो, जो सत्ता-लोलुप हो और सत्ता पाने के लिए निरपराध हजारों को मौत के घाट उतार दिया हो, इतिहास में ऐसे अपराधी विजेताओं एवं बादशाहों की भरमार है। सिकंदर, चंगेजखां, तैमूरलंग, नेपोलियन, हिटलर, मुसोलिनी आदि अनेक ऐसे रहे हैं जिनकी आंखें बहते हुए मानवरक्त को देखकर चमक उठती थीं।

दिल्ली के इतिहास में एक ऐसे क्रूर आक्रमणकारी का नाम आता है जिसने लाखों निरपराध लोगों के सिर काटकर उन कटे मानव सिरों की एक ऊंची लाट बनवाई थी। क्या ऐसे लोगों को शहशाह कह सकते हैं?

हिंदुस्तान में औरंगजेब मुगल सम्राटों में सबसे बड़ा शहशाह था। उसका साम्राज्य अकबर के साम्राज्य से भी बड़ा था। मुगल बादशाहों में वह सबसे ज्यादा धनवान था। उसका साम्राज्य 32 लाख वर्ग कि.मी. में फैला था। 15 करोड़ लोगों पर राज करता था। उसकी सेना उस समय विश्व की सबसे बड़ी सेना थी। तोपखाने लाजवाब थे। राजपूतों, मराठों के अलावा मुस्लिम सल्तनतों—आदिलशाही, कुतुबशाही और अहमदनगर की भी उसने मिट्टी पलीद कर दी थी। उसने 26 साल मुसलमानों से दक्षिण भारत में युद्ध किया जिसमें लाखों मुसलमान मारे गये। वह सुन्नी था, शिया राज्यों के विरुद्ध वह जीवन भर लड़ा। उसकी फौजी छावनी चलती-फिरती राजधानी होती थी जो 30 मील (50 कि.मी.) की लंबाई-चौड़ाई में फैली होती थी जिसमें 250 बाजार, 50 हजार ऊंट, 15 हजार हाथी, 15 लाख सिपाही होते थे। दक्षिण भारत में 26 साल चले युद्धों के कारण अकाल पड़े, प्लेग जैसी महामारी फैली थी। और औरंगजेब को ‘जिल्ले इलाही’—धरती पर खुदा की परिछाई कहा जाता था!

90 वर्ष की उम्र में बूढ़ा औरंगजेब दक्षिण भारत में लड़ रहा था। उसकी तबियत खराब हुई। सुबह मस्जिद से नमाज पढ़कर वह वापस पालकी से महल में आया। लोगों ने उसे सहारा देकर नीचे उतारा। उसने चांदी की दो

छड़ी के सहारे चलना शुरू किया। अपने कक्ष में पहुंचकर वह बिस्तर के पास ही गिर पड़ा। छड़ी छूट गयी, घुटनों के बल जमीन पर गिर पड़ा। मरते वक्त उसके हाथ में कीमती तस्बीह (सौ दानों की माला जिसका प्रयोग मुसलमान जप के लिए करते हैं) थी। शुक्रवार की सुबह 20 फरवरी 1707 में वह मर गया। अपने पुत्रों को उसने पत्र में लिखा था—

“मैं अकेला आया था, और अजनबी की तरह वापस जाता हूँ। जितने दिन मैंने राजकाज में बिताये, इसमें मुझे केवल दुख ही मिला। जिंदगी जो इतनी बेशकीमती थी, उसे मैंने यूँ ही खो दिया। जीवन क्षणिक है। अतीत (भूतकाल) तो गुजर गया और भविष्य की कोई आशा नहीं। मुझे अब अपने आखिरत की चिंता है, दंड पाने से घबरा रहा हूँ। यद्यपि अल्लाह मेहरबान है फिर भी मैंने जो किया है, उससे घबराता हूँ। मैंने जो भी पाप किया है, जो भी गलती हुई है, उसके परिणाम मेरे साथ में जायेंगे। खाली हाथ आया था और अपने गुनाहों का भार लेकर जाता हूँ। अल्लाह को कैसे मुंह दिखाऊंगा? इसी डर से मैं कांपता हूँ।”¹

हिंदुस्तान के एक बड़े शहशाह की यह दयनीय दशा दिखाती है कि जिन्हें हम बादशाह कहते हैं, वे तो दुखी-दरिद्र हैं। हरक्षण भयभीत, आशंकित, पीड़ित। उनका मन हर क्षण पुलपुलाता रहता है। संगी-साथी, पत्नी-बच्चे, मित्र-यार, सेवक-सैनिक, मंत्री-सेनापति सबके प्रति अविश्वास से भरे। ऐसे बादशाह को कौन सुखी कह सकता है?

संतों ने इसीलिए दुनियावी बादशाहत को झूठ कहा है और एक सच्ची बादशाहत की चर्चा की है। सद्गुरु कबीर साहेब ने कहा है—

चाह गयी चिंता मिटी, मनुवा बेपरवाह।

जिनको कछु न चाहिये, सोई शाहनशाह ॥

(कबीर साखी)

उन्होंने और भी कहा है—

1. Empire of The Moghul by Alex Rutherford, Headline Publishing Group, London.

जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास ॥

(बीजक)

सद्गुरु कबीर कहते हैं—मैंने संसार की सारी आशाएं एवं कामनाएं छोड़ दी हैं, इसलिए मैं पूर्ण सुखी हो गया हूँ। तू भी मेरे समान संसार की सारी आशाएं एवं कामनाएं छोड़ दे और तू भी पूर्ण सुखी हो जा। वास्तव में निष्कामता में ही सुख है। असली बादशाह वह है जिसे कोई इच्छा न हो, जिसकी सारी इच्छाएं पूर्ण हों। सभी इच्छाओं को पूरा करना किसी के वश का नहीं। हां, इच्छाओं को त्यागकर उनसे निवृत्त हुआ जा सकता है। हम अपनी बादशाहत को समझें।

स्वामी रामतीर्थ (1873-1906) उच्च कोटि के मस्तमौला हिंदू संन्यासी हुए हैं। मात्र तैंतीस वर्ष की आयु में उनका शरीर छूट गया। स्वामी रामतीर्थ अपने आपको बादशाह समझते थे और ऐसा कहते और लिखते भी थे। जिसे किसी चीज की जरूरत नहीं, जिसे न धन चाहिए, न ही मान; जिसका दिल अमीर हो, वास्तव में वही तो अमीर है। जो आदमी इन्सानी गलतियों से ऊपर उठकर असीम प्राणी एवं मानव समाज के साथ एकता अनुभव करता है, वही वास्तव में राजा, वरन् शहंशाह है।

स्वामी रामतीर्थ जापान एवं अमरीका की यात्रा के बाद समुद्री जहाज से हिंदुस्तान लौट रहे थे। रास्ते में मिस्र के बंदरगाह से जिस जहाज से स्वामी रामतीर्थ भारत आने वाले थे, उसी में भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन भी भारत जा रहे थे। वायसराय की हैसियत बादशाह जैसी ही होती थी। जब स्वामी जी को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने तुरंत कहा—दो बादशाह एक ही जहाज में यात्रा नहीं कर सकते! उन्होंने टिकट वापस कर दिया और दूसरे जहाज से भारत वापस आये।

स्वामी रामतीर्थ प्रायः अपनी घड़ी से खेला करते थे। चाहे प्रातः हो या सायं या दोपहर कुछ भी हो, यदि उनसे कोई पूछता क्या बजा है तो बड़े धैर्य से घड़ी देखते, फिर पूछने वाले का चेहरा देखते और कहते—प्यारे, इस समय ठीक एक बजा है। यदि कोई कहता—आप सदैव एक ही बजा बताते हैं तो उत्तर मिलता—प्यारे, राम की घड़ी ही ऐसी है। उसमें सदा एक ही बजा

मिलता है। संसार के लोगों के चेहरे पर सदैव बारह बजा रहता है जबकि मेरी घड़ी हमेशा एक बजाती है—हमेशा मस्त रहता हूँ।

हमारे गुरुदेव श्री अभिलाष साहेब की एक पुस्तक है—वैराग्य संजीवनी, जिसमें एक पद्य है—पर वे हि शाहंशाह हैं। इसमें आध्यात्मिक शहंशाह कौन है, इसे बताते हुए वे लिखते हैं—

बहुत मान-प्रभुता का क्या कहना, जिन्हें कोई ठीक से जानता भी न हो; बहुत धन-द्रव्य के प्रदर्शन की बात ही क्या, उनके पास फूटी कौड़ी भी न हो; शिष्य-शाखा भी न हो, कोई फर्क नहीं। यदि वे मन के प्रभाव से पार हों और अपने जग-राग को उच्छेदन कर दिये हैं तो वे ही सच्चे अर्थों में शहंशाह हैं। बहुत वेद-विद्या की तो बात ही क्या? हो सकता है उन्हें ठीक से अक्षरज्ञान तक न हो; काव्य-प्रबंध रचना को वे जानते भी न हों पर यदि अन्तःकरण को जलानेवाली कामना-ज्वाला की आग उनकी बुझ गयी है तो फिर दुनिया भले उन्हें पागल गिने, पर 'वे हि शाहंशाह हैं।'

भले वे भिक्षा मांगकर अपना पेट पालते हों, और पुरानी चादर ओढ़कर सो जाते हों; कैसा भी दुख-सुख पड़े, अपने में स्थिर रहते हैं और जब अपना अंतिम काम कर लिए—संसार से अनासक्त हुए, तब 'वे हि शाहंशाह हैं।'

जिन्होंने चाम-सुख और धन आदि को लात मार दिए हैं और आशा-तृष्णा सर्पिणी के विषैले दांत तोड़ डाले हैं; फिर चाहे वे गरीबी की राह पर चलते हुए तन-निर्वाह लेते हों और रुखे-फीके-स्वादहीन दीख पड़ते हों 'पर वे ही शाहंशाह हैं।'

भले उनके कोई मित्र, रक्षक व परिजन साथ न हों, तन से भी वे कृशित, दुबले, रसहीन हों, या रोगपीडित भी हो सकते हैं, पर काम-भोगों की पीड़ा यदि उनकी मिट गयी है और वे इससे बेपरवाह हों, सदैव निर्मान भाव में हैं तो 'वे ही शाहंशाह हैं।'

भले वे कुमार हों, जवान हों या वृद्ध हों, वर्ण में भी हीन हों, ऊंची जाति के न हों, देखने में भी दर्शनीय न हों, और भिक्षुक की तरह दीन-दरिद्र का कष्टपूर्ण जीवन गुजारते हों, किंतु यदि वे चाहनाहीन हैं और अपने निजरूप में स्थिर हैं, दिव्य अपरोक्ष स्थिति में हैं तो 'वे ही शाहंशाह हैं।'

जितने भी सांसारिक ऐश्वर्य हैं उनके लिए नास्ति हैं, बादल की छाया-जैसे क्षणभंगुर हैं; संसारी हों या वेषधारी हों, सभी चाह की ज्वाला में जल रहे हैं—जो धैर्यवान ऐसा जानकर और आशा को तजकर अपनी गहराई में स्थित हैं और वैराग्य रहनी धारण किए हैं, 'वे ही शाहंशाह हैं।'

ऐ मेरे प्यारे मित्र मन! चेत जा और वैराग्य रहनी बना; भोग इच्छा को विष समझकर त्याग दे; संसार की सुख-भावना एवं राग को नष्ट कर। बस अब तू रुक जा, मन के वेग की परवाह से ऊपर उठ। जब निष्काम मन हो गया, 'बस तू ही शाहंशाह है।'

वैशेषिक दर्शन के आचार्य हैं—महर्षि कणाद। अन्न के कण बीनकर गुजारा करते थे। उसी से नाम कणाद पड़ गया। कैसा भौतिक दारिद्र्य रहा होगा उनका, किंतु मेधा, प्रज्ञा में अनुपम। जब किसी राजा को पता चला तो उन्हें धन भेंट करने आया। कणाद ने कहा—मेरी कोई आवश्यकता नहीं। गुजारा हो जाता है। ये सारा धन उन्हें बांट दो जिन्हें इसकी इच्छा हो। मेरे पास सब कुछ है। उनके तन पर लंगोटी भर थी किंतु कुछ भी लेने से इंकार कर दिया। राजा ने लौटकर यह बात अपनी रानी से बताया। रानी ने कहा—आपने भूल की है। साधु के पास उन्हें कुछ देने नहीं, अपितु उनसे कुछ लेने जाना चाहिए। जिनके पास भीतर कुछ है, वे ही बाहर का सब-कुछ छोड़ने में समर्थ होते हैं। राजा ने जाकर कणाद से क्षमा मांगी।

कणाद ने कहा—गरीब कौन? मुझे देखो और स्वयं को देखो—बाहर नहीं, भीतर। मैं कुछ मांगता नहीं, चाहता नहीं।

वे ही संपदाशाली हैं जिनकी कोई आवश्यकता नहीं। इच्छाएं दरिद्र बनाती हैं। शहंशाह तो केवल वे हैं जिनकी कोई मांग शेष नहीं रह जाती।

एक संपदा बाहर है और एक भीतर है। जो बाहर है वह आज-कल में खो जायेगी। इसलिए जो इस बात को जो जानते हैं, वे उसे संपदा नहीं आपदा-विपदा मानते हैं। उनकी खोज उसके लिए होती है, जो कि भीतर है और जो खोती नहीं और जिसे पाने पर फिर कुछ और पाना शेष नहीं रह जाता।

अतः आध्यात्मिक शहंशाह होना मानव-जीवन की उच्चता है। इसके आगे और कुछ होना-पाना शेष नहीं। हमें इसी के लिए प्रयास करना है।

डॉ. राममिलन की कविताएं

सत्य

कह दो जिसको वह सत्य नहीं, और सत्य कहा न जाता है। यह सत्य शब्द तो सत्य नहीं, क्यों जग को फिर भरमाता है ॥ है सत्य न द्रव्य, पदार्थ कोई, न इसे पकड़ कोई पाता है। ले सत्य नाम को बार-बार, वाणी भ्रम जाल फंसाता है ॥ मैं तो बस इतना जान सका, है सत्य ज्ञान और ब्रह्म सत्य। हे मूढ़ मनुष तुझसे कहता, ले सत्य नाम मतकर कुकृत्य ॥ मैं सत्य खोजते हार गया, मन्दिर, मस्जिद गुरुद्वारा में। यह सत्य बला है आखिर क्या, बिकता जो बीच बजारों में ॥ मैं कहूँगा प्यारे बस इतना, है सत्य तो बस चेतन अपना। तू मान-न मान तेरी मरजी, झूठा बाकी है सब सपना ॥

धर्म और व्यापार

झूठे प्रचार से धर्म बढ़े, व्यापार बढ़े दो नम्बर से। छल कपट से चतुर सुजान बढ़े, नेता बढ़ि जाँय बवन्दर से ॥ यह रीत सदा से जग की है, झूठा है जोर से चिल्लाता। भूखा गरीब है सदियों से, है भला कहां वह हक पाता ॥ दुर्भाग्य हमारा यह है कि, पत्थर को दूध पिलाते हैं। करते हैं स्वांग सत्य का हम, पर झूठ से नहीं अघाते हैं ॥ इतिहास के लिखने वालों ने, जब चाहा जैसा लिख डाला। कितनी चतुराई से फिर ये, जपते हैं स्वरचित की माला ॥ हम-तुम सब हैं भाई-भाई, और प्रकृति पर मुझे भरोसा है। तू मान न मान तेरी मरजी, नहीं खाना अब मुझे धोखा है ॥

जो जन्मा उसको है मरना

एक भाग्य बताकर डरवाता, एक ले हथियार है डरवाता। ये कभी निपट ले आपस में, कुछ काम मनुष का बन जाता ॥ एक मरता दौलत शोहरत को, दूजा मरता उन्माद लिये। जड़ काट रहे मानवता की, कैसे साधारण मनुष जिये ॥ एक शनि मनाने को कहता, दूजा अल्ला फरमान कहे। दोनों ही छलते मानव को, आखिर कब तक इन्सान सहे ॥ एक छले आत्मा खुद अपनी, एक छलनी मेरा शरीर करे। दोनों में फरक कहाँ ज्यादा, दोनों शिकार एक तीर करे ॥ अचरज सुनकर होगा सबको, खुद दोनों भी हैं, बहुत डरे। मानव को चले डराने थे, अपने कर्मों से आपु मरे ॥ इसलिये मेरे मानव भाई, इन दोनों से अब मत डरना। डरना बस अपने कर्मों से, जो जन्मा, उसको है मरना ॥

मानुष ह्वै के ना मुवा

लेखिका—साध्वी राजेश्वरी

यों तो इस दुनिया में जिसने जन्म लिया है वह मरता अवश्य है, लेकिन कितने लोगों का मरना सार्थक होता है और कितने लोगों का मरना बिलकुल निरर्थक होता है। जन्म लेने के बाद हर व्यक्ति को पांच अवस्थाओं का सामना अवश्य करना पड़ता है। वे हैं—बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था, विपत्ति तथा मृत्यु।

मनुष्य को मनुष्य का शरीर तो मिला है, परन्तु वह पूरा मनुष्य कहां बन पाता है? वह पता नहीं क्या-क्या बन जाता है, परन्तु पूरा मनुष्य नहीं बन पाता। सद्गुरु कबीर साहेब ने कहा है—“मानुष ह्वै के ना मुवा”। तुम मरे तो लेकिन पूरा मनुष्य होकर नहीं मरे। मुवा सो डांगर ढोर।

पूरा मनुष्य बनने के लिए ही तो कथा, सत्संग-प्रवचन आदि होते हैं। कहीं ऐसा नहीं देखा जाता है कि जहां गाय, भैंस, बैल या गधे बंधें हों वहां कोई प्रवक्ता संत-महात्मा जाकर कहता हो कि पूरे गधा बनो, पूरे बैल बनो आदि। कहा जाता है तो सिर्फ पूरा मनुष्य बनने के लिए। पूरा मनुष्य बनने के लिए ही धार्मिक स्थल मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर और गुरुद्वारा की स्थापना की गयी। लेकिन मनुष्य अपनी संकीर्ण भावनाओं के कारण इन्हीं में कैद होकर रह गया। किसी ने बड़ा सुन्दर लिखा है—

हम क्या बनाने आये थे, क्या-क्या बना बैठे।
कहीं मन्दिर बना बैठे, कहीं मस्जिद बना बैठे ॥
अरे! हमसे तो अच्छे, वो परिन्दे हैं,
कभी मन्दिर पे जा बैठे, कभी मस्जिद पे जा बैठे ॥

मनुष्य के जीवन में प्रथम बाल्यावस्था आती है। बाल्यावस्था में संस्कारों की जरूरत पड़ती है। यह दायित्व माता-पिता का है कि वे अपनी संतान को अच्छे संस्कार दें। प्रारम्भिक अवस्था में दिये हुए संस्कार जीवन भर हमारे साथ रहते हैं। और यही

संस्कार हमारे सुख एवं दुख के निर्माता बनते हैं। संतान को मात्र जन्म देना बड़ी बात नहीं होती, बल्कि बड़ी बात है अच्छे संस्कार देना। संस्कारित व्यक्ति खुद सुखी रहता है और दूसरों को भी सुखी रखता है।

हमारे जीवन का दूसरा पड़ाव जवानी का आता है। जवानी अवस्था में हमारे पास शक्ति रहती है। जवानी अवस्था में ही हमें पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है। पुरुषार्थ के बिना हमारा जीवन उन्नतिशील नहीं बन सकता। यह पुरुषार्थ भी तीन प्रकार का होता है—व्यावहारिक, पारमार्थिक और आध्यात्मिक।

व्यावहारिक पुरुषार्थ में हम मेहनत करके धन-सम्पत्ति कमाकर भौतिक संसाधनों तथा आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं और भौतिक रूप से सुखी रह सकते हैं। यदि आदमी अपने दुख को मिटाना चाहे तो जिस परिस्थिति में है उसी में सन्तुष्ट रहने की कोशिश करे। आदमी के पास सब कुछ है फिर भी वह दुखी है। आज से पचास वर्ष पहले की स्थिति देखी जाये तो लगता है कि मनुष्य के पास जो साधन घर-द्वार, मकान-दुकान और गाड़ी-घोड़ा आदि आज हैं पहले उससे बहुत कम मात्रा में थे। फिर भी वह सुखी था। यह नहीं कि आदमी अभावग्रस्त होकर आत्महत्या कर ले। लेकिन आज! आज की स्थिति बड़ी भयावह है। आदमी आये दिन आत्महत्या करता है। दुखों से निवृत्ति का समाधान आत्महत्या नहीं, बल्कि दुखों का सामना करना है, संघर्ष करना है।

यह अलग विषय है कि शरीर क्षणभंगुर है और आत्मा अखण्ड अविनाशी है। शरीर के नष्ट होने पर आत्मा नष्ट नहीं होती है। तभी तो कहा है—

मिट्टी में मिट्टी मिले, पानी में पानी।

पानी का बबूला जैसे तेरी जिन्दगानी ॥

धन-दौलत और माल खजाना, यहीं पड़ा रह जायेगा।
धर्म किया जो वही है साथी, और काम नहीं आवेगा ॥

अपना साथी तो धर्म-भक्ति, सेवा, सदाचार है। इसको आत्मसात करके ही आगे बढ़ा जा सकता है।

आदमी अज्ञानता और भावुकता में आकर आत्महत्या करता है। आप तो मर जाते हैं, दुनिया छोड़ जाते हैं, परन्तु जो रह जाते हैं उनको दुखों के गहरे सागर में डुबो जाते हैं। किसी को दुख नहीं देना है, किसी को विधवा नहीं बनाना है। पति मरता है पत्नी जिन्दगी भर रोती रहती है। बेटा मरता है, मां जिन्दगी भर छाती पीट-पीटकर कर विलाप करती है। एक भाई मरता है, दूसरा भाई जीवन भर बिलखता रहता है। हमारे मरने पर अपने कहलाने वाले जीवन भर रोते-तड़पते रह जाते हैं। आखिर हमने दिया क्या? सिर्फ दुख, सिर्फ पीड़ा। मौत तो स्वाभाविक रूप से आयेगी ही, इससे कौन बच सकता है? तभी किसी ने कहा है—

*जिन्दगी गम ही सही गाती तो है।
दुनिया एक धोखा ही सही भाती तो है॥
हाथ में मौत के आगे भला क्यों जोड़ूँ।
ये तो नींद है थम-थम के सही आती तो है॥*

दूसरा पारमार्थिक पुरुषार्थ आता है। इसमें हम दूसरे की सेवा, सहयोग, दान-पुण्य आदि करके अपने को तथा दूसरों को भी सन्तुष्टि दे सकते हैं। देखा जाये तो हमारा जीवन बहुतों के आधार में चलता है। हम समाज से बहुत ज्यादा उपकृत हैं। इसलिए हमें भी चाहिए कि जो हमारे पास है वह हम दूसरों को दें। हमारे पास नहीं है तो उधार लेकर नहीं देना है। हमारे पास धन है तो धन से सेवा करें। वैसे दया, क्षमा, सत्य, प्रेम, सहिष्णुता तो है ही, उसे तो दे ही सकते हैं। जो व्यक्ति अपनी पवित्र भावनाओं से तथा निष्काम भाव से धर्म करता है उसके पास धन अवश्य रहता है। विवेकी व्यक्ति अपने धन का उपयोग धर्म के लिए करता है और अविवेकी इसके उलटा अधर्म के लिए करता है। धर्म स्वयं को तथा दूसरों को सन्तुष्टि तथा शांति प्रदान करता है और अधर्म स्वयं को तथा दूसरों को दुख, अशांति तथा पीड़ा देता है। अधर्म के पथ पर चलकर यदि हम सफल हुए भी तो क्या! अधर्म और अन्याय से हमने धन इकट्ठा कर भी लिया, तो कौन उपलब्धि हासिल कर ली। अरे!

उस धन में सैकड़ों लोगों की हाय और बद्दुआ छुपी है जो कभी चैन से नहीं रहने देती। हमने मानवता, भाईचारा, सहिष्णुता, प्रेम और सौहार्द को तिलांजलि दे दी और अपने को बड़ा होशियार माना यह महा धोखा है। तभी तो कहा है—

*कामयाबी बड़ी नहीं, पाने वाला बड़ा होता है।
दरार बड़ी नहीं भरने वाला बड़ा होता है।
हमारी न मानो इतिहास देख लो,
रिश्ते बड़े नहीं निभाने वाला बड़ा होता है॥*

हमें सदैव दया, क्षमा, शील, मैत्री, करुणा, प्यार और उदारता को धारण करके आगे बढ़ना चाहिए, यही सच्ची कामयाबी और सच्ची सफलता होती है।

तीसरा आता है आध्यात्मिक पुरुषार्थ। इसमें श्रम, सेवा, संयम, भक्ति तथा स्वाध्याय को दृढ़ रखकर जीवन भर अपने को शोधन करना है तथा मन-इन्द्रियों को शमित करके आत्मशांति प्राप्त करके स्वरूपस्थ होना है। आज हम सब कुछ जान लेते हैं। अनेक भाषा, कला, गणित, विज्ञान, भूगोल सबका बोध है पर अपना बोध ही नहीं। तभी तो कहा है—

*जानो अपने आपको, खोजो अपने आप।
अपने को जाने बिना, मिटे नहीं संताप॥*

बिना सेवा तथा भक्ति के मनुष्य का कल्याण नहीं। हम चाहे जहां हों, हर जगह सेवा का स्थान ऊंचा रहता है। उन्नतिशील जीवन के लिए सेवा प्रथम सीढ़ी है। हर जगह सेवा करने वाले व्यक्ति को सब पसन्द करते हैं। आलसी व्यक्ति को कोई पसन्द नहीं करता है। आलसी को विद्या, ज्ञान, गुण कुछ भी हासिल नहीं होता है। रामायण में हनुमान जी का कितना प्रचलित उदाहरण है। उन्होंने तो सिर्फ अपने प्रभु श्री राम की सेवा की थी। सेवा के बल पर ही आज वे जनमानस में पूज्य हैं। और वह सेवा भी कितनी निष्काम थी सोचते ही बनता है। हनुमान जी ने जो ठान लिया वही किया, फिर चाहे उनको बड़ी से बड़ी चुनौती क्यों न स्वीकार करनी पड़े। आज दुनिया में श्री राम से ज्यादा हनुमान जी के मन्दिर हैं। श्री राम के मन्दिर में तो लफड़ा-झगड़ा भी है, लेकिन हनुमान जी के मन्दिर में कोई झगड़ा-झंझट ही

नहीं। देखा जाता है थोड़ी सी जगह पड़ी हो, अथवा पीपल आदि का पेड़ खड़ा हो तो शाम को कुछ नहीं होता और सुबह पाया जाता है लाल रंग का झंडा, लिपा-पुता स्थान और वहीं गदा लिये खड़े हैं हनुमान। सेवा भाव के लिए कवि ने कितना अच्छा लिखा है—

उन्नति का साधन सेवा है, जिससे ही आत्मशुद्धि होती।

पर लोभी, मोही, अभिमानी, सेवक पद पाना क्या जाने ॥

हमें सदैव संत-गुरु, बड़े-बुजुर्गों की सेवा में आगे रहना चाहिए। तभी हम अपने मार्ग में आगे बढ़ सकते हैं।

तीसरा पड़ाव वृद्धावस्था का है। वृद्धावस्था में हमें सहनशीलता की जरूरत होती है, परन्तु बुजुर्ग सहन नहीं कर पाते। बूढ़ों से लोग प्रेम भी कम करते हैं और बूढ़ों की बात भी जवान लोग कम पसन्द करते हैं। क्यों? क्योंकि बुढ़ापे में हमारी तीन चीजें खो जाती हैं। एक तो सुन्दरता नहीं रह जाती, दूसरे शरीर में शक्ति नहीं रह जाती। जब शक्ति थी तब बहुत भारी बोझ उठा लिया करते थे, आज तो खुद बोझ बने बैठे हैं। एक समय था पूरे घर को संभालते थे आज तो पानी का गिलास भी नहीं संभाल पाते हैं।

तीसरा आता है 'अधिकार'। बुढ़ापे में अधिकार भी छिन जाता है। जब अधिकार था तो एक डांट में अनुगामी जहां के तहां खड़े रहते थे, परन्तु अब तो अपने ही बेटे-बहुओं की डांट खानी पड़ती है। और तो और नौकर तक अनसुनी कर जाते हैं। बहुत मेहनत करके घर बनाया, धन जोड़ा परन्तु आज अधिकार नहीं है। और अधिकार के बिना बूढ़े टुकुर-टुकुर देखते रहते हैं।

मानव जीवन का चौथा स्टेज है 'विपत्ति'। संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं मिलेगा, जिस पर विपत्तियां न आयी हों। हां, ये विपत्तियां कुछ तो वर्तमान की असावधानी से मिलती हैं, दूसरे भाग्य के आधार पर। जिन्हें भगवान कहा गया, श्री राम, श्री कृष्णादि भी अपने कर्म-फल भोग से नहीं बच सके, उन्हें भी दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। विपत्ति के समय धैर्य की

आवश्यकता है लेकिन उस समय हमारा धैर्य खो जाता है। धैर्य खो जाने पर विपत्ति घटती तो नहीं और बढ़ जाती है। किसी प्रकार की विपत्ति आने पर उसे अपना कर्मफल भोग समझकर धैर्यपूर्वक परिश्रम-पुरुषार्थ करते रहने से समय पर वह दूर हो जाती है।

इसीलिए कहा गया है—

दुख में मत घबराना पंछी, यह जग दुख का मेला है।

चाहे भीड़ बहुत अम्बर में, उड़ना पड़े अकेला है ॥

विवेक नष्ट होने पर आदमी के अन्दर अज्ञान आ जाता है, और अज्ञानी व्यक्ति ही दुखी होता है। अज्ञानी व्यक्ति मानो रात के गहन अन्धकार में रह रहा हो। और रात के अंधेरे में सफर करने वाले अकसर भटक जाया करते हैं। भटकाव के कारण हम जीवन का सत्य क्या है, इसे नहीं समझ पाते हैं।

जिन्दगी का अंतिम पड़ाव है 'मृत्यु'। सारी चीजों में संदेह हो सकता है लेकिन 'मौत' कडुवा सच है। इस पृथ्वी तल पर जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु अवश्य होगी। अधिकांश लोग मृत्यु से भयभीत रहते हैं, तथा आश्चर्य प्रकट करते हैं कि यह क्या हो गया? मृत्यु में भला आश्चर्य क्या? भयभीत क्यों हैं? यह छूट रहा है, वह छूट रहा है, हाय! अब क्या करेंगे और जीवन की कर्म कहानी की पूरी रील आंखों के सामने घूमती है। यदि हमारे हाथ में होता तो हम कुछ भी न छोड़ते।

सारतः जो जन्मा है, वह मरेगा अवश्य। लेकिन जब हृदय की ग्रन्थियां खुलने लगे, वासना की बेड़ियां टूटने लगे तथा बन्धनों की कड़ियां टूटने लगे तो समझना चाहिए कि हमारा मरना सार्थक है। हमारी जीत यही होगी कि हम मनुष्य होकर मरें। स्वरूपज्ञान की निश्चयता होने पर मनुष्य के अन्दर निर्भयता आ जाती है। स्वरूपस्थिति ही जीवन की अंतिम स्थिति है। उस स्थिति को समझकर स्वरूपस्थ होकर मरना ही मनुष्य होकर मरना है, अन्यथा डांगर-ढोर वत हमारा जीवन बना रहेगा और प्राणान्त हो जायेगा। हम बहिर्मुखता से हटकर अन्तर्मुखी बनें, तभी जीवन की सच्ची उपलब्धि होगी। यही मनुष्य होके मरना है।

व्यवहार वीथी

भ्रम-मुक्त जीवन

एक जगह आधुनिक साज-सज्जा एवं सुविधापूर्ण एक बड़ा अच्छा सुंदर मकान बनवाया गया था। उसके ऊपर छत से स्कूटर का एक पुराना टायर बांधकर लटकाया गया था। यह पूछने पर कि इतने सुंदर नये मकान के ऊपर से यह पुराना टायर क्यों लटकाया गया है, उत्तर मिला कि मकान को किसी की नजर न लगे, इसलिए यह टायर लटकाया गया है। लोगों से कहा गया कि यदि मकान के ऊपर से पुराना टायर लटकाने से मकान पर किसी की नजर नहीं लगती है तो यह टायर लोगों को अपने गले में लटका लेना चाहिए जिससे उन पर मौत की नजर न लगे और वे मौत से बच जायें।

क्या मकान के ऊपर से टायर लटका देने से, मकान की दीवार के ऊपरी भाग में काली हंडी औंधे मुंह रख देने से, मकान के दरवाजे में नीबू-मिर्चा धागे में गूथकर लटका देने से मकान पुराना नहीं होगा, उसमें टूट-फूट नहीं होगी, मकान में रहने वाले बीमार नहीं पड़ेंगे, किसी की मौत नहीं होगी, किसी प्रकार की विपत्ति नहीं आयेगी? लोग सभी प्रकार के दुख-दर्द से बच जायेंगे?

शकुन-अपशकुन, ग्रह-लगन, टोना-टोटका, जादू, मंत्र-तंत्र, दिशाशूल, भूत-प्रेत, जिन्द-चुड़ैल आदि अनेक प्रकार के भ्रम-अंधविश्वास दुनिया के हर देश-समाज में पुराकाल से व्याप्त हैं। इनके मूल में है प्रिय-वियोग, अप्रिय संयोग, रोग, व्याधि, आर्थिक हानि, अपमान आदि का भय। लोगों के इसी भय का लाभ उठाते हैं बैगा, ओझा, सोखा, नाउत, ज्योतिषी, तांत्रिक, पण्डे-पुजारी, साधु-महात्मा नामधारी।

शिक्षा और विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ लोगों में वैज्ञानिक मानसिकता का विकास होना चाहिए था और लोगों को भय-भ्रम मुक्त जीवन व्यतीत करना चाहिए था, परंतु आज समाज में इसके ठीक विपरीत स्थिति देखने को मिल रही है। आधुनिक संसाधनों का प्रयोग करने वाले शिक्षित-विद्वान लोग भी नाना प्रकार

के भ्रम से ग्रस्त एवं पीड़ित हैं। आज भी ऐसे शिक्षित-विद्वानों, यहां तक इंजीनियरिंग की पढ़ाई करके इंजीनियर की डिग्री लेने वालों, भौतिक तथा रसायन विज्ञान के प्रोफेसरो की कमी नहीं है जो पृथ्वी से करोड़ों किलोमीटर दूर आकाश में स्थित ग्रहों को वश में करने तथा उन्हें अपनी मरजी के अनुसार चलाने के लिए हाथ की अंगुलियों में अनेक अंगूठी तथा रत्न पहने घूमते रहते हैं। इन विद्वान एवं शिक्षित नामधारियों को इतनी साधारण-सी बात समझ में नहीं आती कि हाथ की अंगुलियों में अंगूठी एवं रत्न पहनने से ग्रहों की चाल कैसे बदल जायेगी।

आजकल ज्यादातर शहरी, पढ़े-लिखे एवं धनी लोगों में वास्तुशास्त्र के नाम पर एक नये प्रकार का भ्रम फैलता जा रहा है। शहरों में जहां कहीं कोई नया मकान बनते दिखाई पड़ा वास्तुशास्त्री कहलाने वाले पहुंच जाते हैं और मकान बनाने वालों को यह कहकर कि आपने मकान का दरवाजा, स्वागत कक्ष, शयनकक्ष, रसोई घर, पूजाघर, स्नानघर, शौचालय, पानी की टंकी आदि गलत दिशा में, गलत जगह बनवा दिया है, इससे तो इस प्रकार की हानि हो जायेगी, उन्हें भ्रम में डाल देते हैं। और अपने हिसाब से कुछ तोड़-फोड़ करवाकर मकान बनाने वालों का खर्च बढ़वा ही देते हैं, अपने शुल्क या पूजा के नाम पर दस-बीस-पचास हजार लूटकर ले जाते हैं।

क्या कोई वास्तुशास्त्री यह गारंटी दे सकता है कि उसके कहे अनुसार मकान बनवाने पर उस मकान में रहने वालों में कभी कोई बीमार नहीं होगा, किसी की मौत नहीं होगी, कभी कोई आर्थिक हानि नहीं होगी या अन्य कोई समस्या नहीं आयेगी। जब ये सारी चीजें हर घर में होंगी तब वास्तुशास्त्र के नाम पर लूट क्यों? इसलिए ऐसे वास्तुशास्त्रियों से सदैव दूर रहना चाहिए। नहीं तो इनके चक्कर में पड़ने से धोखा के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलेगा। हां, मकान बनाते समय इतना ध्यान रखना चाहिए कि मकान छोटा-बड़ा जैसा भी हो उसमें हवा-प्रकाश आने की पर्याप्त गुंजाइश हो।

कितने तांत्रिक कहलाने वाले तंत्र के बल पर बड़े-बड़े कार्य सिद्ध करने, विपत्ति दूर करने, ऋद्धि-सिद्धि देने का झांसा देते हैं। परंतु यह केवल धोखा है। तंत्र के

बल पर कोई किसी को कुछ नहीं दे सकता। कितने तांत्रिक नामधारी स्वयं अनेक प्रकार की विपत्तियों एवं समस्याओं से घिरे रहते हैं। कितने तो किसी गैर कानूनी कर्मों के कारण महीनों जेल में बंद पड़े रहते हैं। उस समय उनका तंत्र कुछ काम नहीं आता। यदि तंत्र में शक्ति होती तो तांत्रिकों के जीवन में कोई समस्या आती ही नहीं। वे सब प्रकार की समस्याओं से मुक्त रहते। उनका तंत्रज्ञान, तंत्रविद्या केवल दूसरों को ठगने-लूटने के लिए होती है। इसलिए ऐसे तांत्रिकों से भी दूर रहने की आवश्यकता है।

नाम या मंत्र कोई भी हो, सब बराबर हैं। उनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं है। उनके जपने में मन में सात्त्विक भावना आती है, बाह्य प्रपंच से हटकर मन एकाग्र होता है। मन की सात्त्विक भावना एवं एकाग्रता के लिए ही नाना मतों में नाम एवं मंत्र जप का विधान किया गया है। परंतु इस तथ्य को भूलकर नाम जप एवं मंत्र जप के पीछे यह मिथ्या महिमा एवं अंधविश्वास जोड़ दिया गया कि नाम एवं मंत्र जप से सारे पापों का नाश हो जाता है तथा दुख-दारिद्र्य दूर होकर मनवांछित फल की प्राप्ति होती है और मरने के बाद स्वर्ग एवं मोक्ष मिलता है। इस भ्रम-अंधविश्वास में पड़कर कितने लोग कर्तव्य कर्मों को छोड़कर घंटों नाम जप एवं मंत्रजप में लगे रहते हैं। इससे लाभ तो कुछ नहीं होता, अंत में निराशा ही हाथ लगती है। इसलिए किसी नाम या मंत्र का जप मन की सात्त्विक भावना एवं एकाग्रता के लिए करना चाहिए न कि पाप कटने, स्वर्ग-मोक्ष पाने या भौतिक समृद्धि के लिए।

जैसे हर क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए एक मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है, वैसे ही आध्यात्मिक उन्नति के लिए एक मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है, जिसे गुरु कहा जाता है। उस गुरु से जुड़े रहने एवं उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति बनाये रखने के लिए उससे दीक्षा ली जाती है। परंतु किसी के मन में यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि दीक्षा लेने मात्र से पूरा काम बन जायेगा या दीक्षा लेने पर ही गुरु असली बात बतायेंगे। कितने गुरु नामधारी यह कहते हैं कि यदि असली बात जानना चाहते हो या ईश्वर-दर्शन करना चाहते हो तो पहले हमसे दीक्षा लेनी पड़ेगी। परंतु ऐसे गुरु केवल धंधेबाज एवं धोखेबाज हैं, जो किसी प्रकार प्रलोभन देकर लोगों को अपना शिष्य

बनाना चाहते हैं। ऐसे गुरु किसी प्रकार लोगों को अपना शिष्य बनाकर उनका आर्थिक, मानसिक एवं बौद्धिक शोषण करते रहते हैं। कितने गुरु नामधारी पुत्रहीन को पुत्र देने, निर्धन को धन देने, रोगी का रोग दूर करने, मुकदमा में विजय दिलाने, ग्रह बाधा दूर करने, भूत-प्रेत भगाने आदि का झांसा एवं प्रलोभन देते हैं। परंतु यह सब केवल जालसाजी है। ऐसे गुरुओं के चक्कर में कभी नहीं पड़ना चाहिए। गुरु तो वह है जो सच्चा ज्ञान दे और इस जीवन को कैसे अधिक से अधिक सुख, शांति एवं प्रसन्नतापूर्वक जी सकें, इसकी सीख तथा प्रेरणा दे।

गृह प्रवेश, विवाह या अन्य किसी शुभ काम का आयोजन ऐसे अवसर एवं दिन में करना चाहिए जिस अवसर एवं दिन में ज्यादा से ज्यादा मित्र-परिजन, सगे-संबंधी, नाते-रिश्तेदार आ सकें। इसके लिए किसी ज्योतिषी एवं पुरोहित-पंडित से ग्रह, लगन, मुहूर्त शोधवाने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि कोई ज्योतिषी एवं पुरोहित यह गारंटी नहीं दे सकता कि अमुक लगन-मुहूर्त में किये जाने वाले सभी कार्यों का परिणाम सुखद एवं लाभदायक ही होगा, उनमें कभी घाटा, दुख, कलह, विवाद आदि नहीं होंगे। कितने ज्योतिषी, पुरोहित की लड़कियां विवाह के कुछ दिन बाद ही विधवा हो जाती हैं या उनका वैवाहिक जीवन अत्यंत कलहपूर्ण तथा दुखद बना रहता है।

जंगली युग के इस भ्रम और अंधविश्वास से आज भी अनेक लोग ग्रस्त हैं कि मूर्गा, बकरा, भैंसा आदि की बलि देने से भूत-बाधा, ग्रह-बाधा दूर हो जाती है या देवी-देवता खुश होकर वरदान देते हैं जिससे बिगड़े काम बन जाते हैं। भूत-प्रेत तो कहीं होते ही नहीं हैं, ग्रह आकाश में करोड़ों कि.मी. की दूरी पर स्थित हैं, वे बाधा क्या उत्पन्न करेंगे। रही बात देवी-देवता की, तो वे भी काल्पनिक ही हैं। प्राणियों से अलग किसी लोक-लोकांतर में कहीं कोई देवी-देवता नहीं हैं और मान लो यदि वे हैं भी तो उन्हें तो दयालु, कृपालु होना चाहिए, वे घोर हिंसा-क्रूरता, बर्बरता पूर्ण बलि से, जिसमें निरपराध, निरीह प्राणियों की हत्या की जाती है, खुश कैसे होंगे! निरीह प्राणियों की हत्या से खुश होने वाला शैतान या राक्षस हो सकता है, देवी-देवता नहीं। बलि के नाम पर किसी प्राणी की हत्या करना घोर अंधविश्वास एवं पापपूर्ण कृत्य है। इससे हर आदमी को दूर रहना चाहिए।

व्रत का अर्थ होता है दृढ़ निश्चय, संकल्प, नियम, संयम, प्रतिज्ञा, उपवास आदि; परन्तु आज लोगों के मन में यह बात बैठ गयी है कि अमुक तिथि को अन्न (दाल, भात, रोटी, सब्जी आदि) न खाना व्रत है। रोज-रोज खाते-खाते आंतों की पाचन-शक्ति कमजोर हो जाती है अतः पंद्रह दिन या एक माह में एक-दो दिन उपवास कर लेना अच्छा रहता है। जिस दिन व्रत-उपवास रहना हो उस दिन सादा पानी या नीबू पानी के अतिरिक्त कुछ नहीं खाना-पीना चाहिए, परन्तु आज बिलकुल उलटा हो रहा है। लोग जिस दिन व्रत रहते हैं उस दिन अन्न-भोजन तो छोड़ देते हैं किंतु आलू, सिंघाड़ा या सिंघाड़े का हलुवा, फल, मिठाई आदि चीजें खाकर पेट को और बिगाड़ लेते हैं। व्रत-उपवास केवल पेट-आंत को आराम देने के लिए है, परन्तु इसके पीछे यह अंधविश्वास जोड़ दिया गया है और यही लोगों के मन-मस्तिष्क में घर कर गया है कि व्रत रहने से पाप कटते हैं और अमुक-अमुक फल की प्राप्ति होती है। एकादशी व्रत की महिमा में यहां तक कहा गया कि यह व्रत स्वर्ग और मोक्ष देने वाला है। परन्तु यह सब केवल भ्रम है। जिस दिन जिसको सुविधा हो उस दिन वह व्रत कर सकता है। ध्यान रखना चाहिए कि उस दिन पूरा निराहार रहे, जरूरत के अनुसार पानी पी ले। व्रत के पश्चात् हलका, सात्विक, सुपाच्य भोजन करे। असली व्रत है बुरे कर्मों का त्याग। यह दृढ़ संकल्प कि आज से मैं ऐसा कोई काम नहीं करूंगा जो मेरे अपने लिए तथा दूसरों के लिए हानिप्रद, अपमानप्रद एवं दुःखप्रद हो।

देवी-देवता कहीं आकाश-पाताल में नहीं हैं और न चित्र-मूर्ति में देवी-देवता हैं। उनकी पूजा करने से मन में थोड़ी सात्विक भावना आयेगी, परन्तु उससे न तो आध्यात्मिक विकास होगा और न भौतिक विकास। भौतिक विकास के लिए कठोर परिश्रम चाहिए और आध्यात्मिक विकास के लिए विवेक-विचारपूर्वक सत्संग, स्वाध्याय, सेवा, संयम, साधना, पवित्र आचरण चाहिए और चाहिए मनोविकारों का त्याग। चित्र-मूर्ति किसी महापुरुष की प्रतिकृति हैं। उनकी पूजा है उन्हें स्वच्छ रखना। किसी महापुरुष के चित्र-मूर्ति देखने से उनके त्याग, तप, साधना, उच्च आदर्श की याद आती है और हमें भी उनके जैसा बनने या सत्य-साधना मार्ग में

आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा-बल मिलता है। परन्तु चित्र-मूर्ति की पूजा करना, उनके आगे धूप-दीप जलाना, उन्हें भोग लगाना, उन्हें सुलाने-जगाने का नाटक करना मात्र भावुकता है।

असली देवी-देवता तो प्राणी हैं और प्राणियों में मनुष्य सिरमौर होने से मनुष्य सर्वश्रेष्ठ साकार देवता है। हर मनुष्य को चाहिए कि वह रोज सुबह उठकर पांच-दस मिनट तक यह भावना करे कि मेरा घर देव मंदिर है और घर में रहने वाले नर-नारी देवी-देवता हैं। उनकी पूजा है कोमल वाणी बोलना और कोमल व्यवहार करना, बड़ों के प्रति आदर भाव, उनकी आज्ञा का पालन, बराबर वालों के प्रति प्रेम-मैत्री भाव तथा छोटों के प्रति स्नेह, प्यार एवं वात्सल्य भाव।

इस प्रकार सारे भ्रम-अंधविश्वास, मिथ्या महिमा से मुक्त होकर, भौतिक विकास की दिशा में परिश्रमशील रहना, उस परिश्रम से जो प्राप्त हो उसमें संतुष्ट रहना, प्राणिमात्र के प्रति देव बुद्धि रखते हुए उनके प्रति दया-करुणा का भाव रखना, मनुष्यों में बड़े-बूढ़े, माता-पिता, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा-आदरभाव रखना, उनकी आज्ञा का पालन तथा सेवा करना, बराबर वालों के प्रति प्रेम-मैत्री भाव रखकर समतापूर्वक व्यवहार करना तथा छोटों के प्रति करुणा, स्नेह भाव रखकर उनकी रक्षा करना, जीवन जीने की सुंदर कला है।

सभी प्रकार के भ्रम-अंधविश्वास आदमी के मन को कमजोर एवं भयभीत बनाकर रखते हैं और कमजोर तथा भयभीत मन का आदमी मानसिक प्रसन्नता, शांति-सुख का अनुभव नहीं कर सकता। इसी प्रकार मिट्टी-पत्थर, कागज के मूर्ति-चित्र बनाकर उनको देवी-देवता मानकर तो उनकी पूजा-आराधना करना, किन्तु मनुष्यों के साथ छल-कपटपूर्ण व्यवहार करना, स्वार्थपूर्ति के लिए दूसरों का हक मारना, बड़े-बूढ़ों, गुरुजनों का अनादर तथा अवज्ञा करना—असली देवी-देवता और पूजा को न समझना है। यदि जीवन को सही ढंग से जीना है और मानसिक सुख-शांति और प्रसन्नता का अनुभव करना है तो छल-कपटपूर्ण व्यवहार का पूर्णतया त्याग कर निष्काम सेवा करते हुए जीवन को सद्गुण-सदाचारमय बनायें। फिर इसी जीवन में स्वर्ग-सुख का अनुभव किया जा सकता है। —धर्मन्द्र दास

वह परिवर्तन बनें

लेखक—सौम्येन्द्र दास

वह परिवर्तन बनें जिसे संसार में आप देखना चाहते हैं, जिसे कबीर साहेब ने चंद शब्दों में कह दिया है— “हैं देखा परलय की छांही” (रमैनी 46)। मैं सब कुछ को प्रलय की छाया में देखता हूं। प्रलय की छाया का अर्थ है ‘नश्वरता के भीतर’।

जीवन जोबन राजमद, अविचल रहे न कोय।

जो दिन जाय सत्संग में, जीवन का फल सोय ॥

(साखी ग्रंथ)

जीवन, जवानी तथा राज्य का मद ये कोई भी स्थिर नहीं रहते।

ये दुनिया एक सरायखाने देखी,

हर चीज यहां आनी-जानी देखी।

जो आके न जाये वो बुढ़ापा देखा,

जो जाके न आये वो जवानी देखी ॥

हम-आप क्या देखना चाहते हैं? स्थिरता।

अपने और अपनों को स्थिर देखना चाहते हैं। अपने माने हुए सुख-सुविधा को स्थिर देखना चाहते हैं। माने हुए इसलिए कहता हूं कि एक व्यक्ति वह होता है जो उसके बिना जी नहीं पाता है, लेकिन दूसरा व्यक्ति आराम से जी लेता है, उसे उसकी याद ही नहीं होती। जितने दुर्व्यसन और मनोविकार हैं वे अपना माने हुए रोग ही हैं।

तो क्या किसी प्राणी-पदार्थ का जीवन में संबंध न हो, व्यवहार न करे? जीवन खड़ा है जड़-चेतन के संयोग से। जीवन है तो प्राणी-पदार्थों का व्यवहार होगा और लेना-देना भी पड़ेगा। साधारण व्यक्ति की क्या कहें जीवन्मुक्त पुरुषों का जीवन भी प्राणी-पदार्थों के बीच बीतता है। उनके पास कला है, साधना की गहराई है इसलिए मुक्ति दशा को भी बनाये रखते हैं।

साधारण आदमी लोगों से संबंध बनाता चला जाता है। मुक्त पुरुष के जीवन में भी संबंध होता है प्राणी-

पदार्थों का, लेकिन संबंध बनता नहीं है। व्यवहार है तो संबंध होगा, लेकिन परमार्थ में अकेला है फिर संबंध क्या बनाना।

जैसे शीशा के सामने जाओ तो चेहरा सामने आ जाता है, हट जाओ तो खो जाता है। महापुरुषों में यही कला होती है। पकड़ने लायक कुछ भी नहीं फिर किसका अहंकार करे कि यह मेरा है। आसक्त-अहंकारी आदमी के लिए ही कहा गया है—

मेरा है मेरा है ऐसा मूढ़ जनम भर करता।

एक दिन मिट्टी के नीचे पड़ा-पड़ा है सड़ता ॥

(हृदय के गीत)

जो मिला है वह व्यावहारिक है। जरूरत है अनासक्ति, निर्मोहता, निष्कामता की।

उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥

इस मंत्र की पहली पंक्ति का भाव एक काल्पनिक आदर्श है और दूसरी पंक्ति का भाव सुखद एवं मुक्त जीवन जीने का ज्वलंत व्यावहारिक निर्देश है। सामान्य संसारी मनुष्यों से लेकर ज्ञानी से ज्ञानी पुरुष भी संसार के प्राणी-पदार्थों के संपर्क में आकर जीवन-निर्वाह लेने के लिए विवश हैं। यदि वे प्राणी-पदार्थों को ममतापूर्वक अपना मानकर तथा उनमें आसक्त होकर जीवन निर्वाह लेंगे और इन्द्रियों के भोगों में उलझेंगे तो उन्हें न शांति मिलेगी न समाधि-लाभ होगा और न जीवन्मुक्ति स्थिति पा सकेंगे। इसलिए ऋषि कहते हैं कि उनका मोह एवं आसक्ति त्याग करके उनसे निर्वाह लो, ‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा’। भुञ्जीथा का अर्थ है निर्वाह लेना। ‘मा गृधः’ लोभ न करो। कहीं आसक्त न हो जाओ, क्योंकि ‘कस्य स्विद् धनम्’ धन किसका है? अर्थात् किसी का नहीं। (उपनिषद् सौरभ)

ऋषि कहना चाहते हैं संसार के प्राणी-पदार्थ व्यवहार चलाने के लिए हैं। गृहस्थ अपनी मर्यादा को समझें, विरक्त अपनी मर्यादा को समझें और ऐसा व्यवहार करें जिससे कहीं उलझन न आये। अंततः किसी का कुछ रह नहीं जाता। गृहस्थ-विरक्त सबका सब कुछ छूटता है। शरीर ही जब अपना नहीं फिर किसका अहंकार। सब बदल जाता है। इसलिए ऋषियों ने कहा—संसरति इति संसारः। संसार परिवर्तनशील है। निरंतर परिवर्तन होता जा रहा है। यहां कोई चीज स्थायी रहने वाली नहीं है। सब कुछ विनशने वाला है। प्राणी-पदार्थ जो आज हमें मिले हैं सब एक दिन छूट जायेंगे। सद्गुरु अभिलाष साहेब जी कहते हैं—

आज तक जो कुछ मिला वह छूट चुका है।
सरकता संसार जो वह कब रुका है।
प्रेमियों के प्यार सपने से छूटे हैं।
मान्यताओं के मेरे दुनिया लुटे हैं।
धन तो केवल तन गुजर के वास्ते है।
पर विचारो शांति के क्या रास्ते हैं॥

अब दूँढो बचपना कहां गया। बचपन के संगी-साथी कहां गये। जवानी कहां खो गयी। देखते ही देखते बुढ़ापा आ जाता है। लेकिन जिस अवस्था में होते हैं लगता है यह ऐसे ही बना रहेगा। जवानी सबसे ज्यादा नशीली है। मन में होता है हम तो जवान हैं, क्या नहीं कर सकते और अहंकारवश बड़े-बूढ़ों का मजाक भी उड़ाते हैं।

एक बूढ़ा व्यक्ति जिसकी कमर झुकी हुई थी रास्ते पर जा रहा था। कुछ मनचले लड़के मिल गये। झुकी कमर देखकर उन्होंने मजाक किया—बाबा, क्या दूँढ़ रहे हो? वह बूढ़ा भी उसी अंदाज में उत्तर दिया—बेटा, जवानी दूँढ़ रहा हूँ। आगे बढ़ा, कुछ और मनचले लड़के मिल गये। झुकी कमर, हाथ में डंडा तो धनुष के आकार का हो गया था तो लड़कों ने मजाक किया—बाबा, धनुष कितने में खरीदे हो? बूढ़े ने कहा—बेटा, फ्री में मिला है। जीवन रहेगा तो तुम्हें भी मिलेगा।

किसका अहंकार। यहां तो सब पानी की धारा की तरह बह रहा है। किसी का कुछ पता ही नहीं चलता—

दादा बाबा औ परपाजों का पता नहीं चलता है।
जो उठकर चल देता है पुनः नहीं मिलता है।
ऐसी विषम काल की ज्वाला सबको भस्म बनाती।
धरने वाला चल देता है रह जाती है थाती ॥
(हृदय के गीत)

आदमी जीवन भर जोड़ने में लगा रहता है। प्राणी-पदार्थों को बटोरने के लिए पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म सब कुछ करने को तैयार है। थोड़ा-बहुत हासिल भी कर ले तो सदा कहां रहने वाले। काल की ज्वाला सबको भस्म करती चली जाती है, और सबका धारण करने वाला जीव सदा-सदा के लिए सब कुछ छोड़कर चला जाता है, फिर लौटकर आता नहीं है। कुछ दिनों के लिए उसकी अच्छाई-बुराई, कहने मात्र को रह जाती है।

संसार में बड़ी-बड़ी हस्तियां हुईं लेकिन कोई चीज किसी के साथ नहीं गयी। कबीर साहेब की पैनी दृष्टि है—

गये राम औ गये लछमना। संग न गई सीता ऐसी धना ॥
जात कौरवे लागु न बारा। गये भोज जिन्ह साजल धारा ॥
गये पांडव कुंता ऐसी रानी। गये सहदेव जिन बुधि मति ठानी ॥
सर्व सोने की लंका उठाई। चलत बार कछु संग न लाई ॥
जाकर कुरिया अंतरिक्ष छाई। सो हरिश्चंद देखल नहीं जाई ॥
मूरख मनुसा बहुत संजोई। अपने मरे और लग रोई ॥
ई न जानै अपनेउ मरि जैबे। टका दश बिद्वै और ले खैबे ॥
साखी—अपनी अपनी करि गये, लागि न काहू के साथ।

अपनी करि गये रावणा, अपनी दशरथ नाथ ॥

(बी. र. 55)

लक्ष्मण जी चले गये, श्रीराम जी चले गये, किंतु पतिव्रता सीता संग में न जा सकी। अपार कौरव दल को जाते विलंब न लगा। संपत्ति एवं कला से धारा नगरी को सजाने वाले राजा भोज भी चले गये। वीर पाण्डु चले गये, कुंती जैसी उनकी महारानी चली गयी और

बुद्धि तथा मति के अगाध भण्डार सहदेव जी चले गये। कहा जाता है प्रसिद्ध महाराजा रावण ने लंका के सारे महल सोने के बनवाये थे, परंतु चलते समय वे भी कुछ न ले जा सके। जिनके राज-प्रासाद आकाश चूम रहे थे वे अयोध्याधीश महाराज हरिश्चन्द्र दिखाई नहीं देते। मूर्ख मनुष्य बहुत संग्रह करता है। स्वयं तो मौत के कगार पर है, परन्तु दूसरे स्वजनों के लिए रो रहा है। यह नहीं जानता कि अन्वों की तरह मैं भी मर जाऊंगा। बल्कि सोचता है कि दस टका धन और बढ़ जाये और उसे लेकर भोग लूं।

सांसारिक प्राणी-पदार्थों को 'मेरा-मेरा' मानकर सब मर गये परंतु किसी के साथ कभी कुछ भी नहीं गया। रावण भी मेरा-मेरा कर चले गये और राजा दशरथ भी मेरा-मेरा कर चले गये।

मितने वाली दुनिया का एतबार करता है।

क्या समझ के तू आखिर इससे प्यार करता है ॥

यहां क्षण-पल का भी भरोसा नहीं, गया श्वास लौटे कि न लौटे। जीव शरीर छोड़कर चला जाता है और शरीर यहीं पड़ा रह जाता है फिर कैसा एतबार! किस पर आशा बांधी जाये! यहां दिल लगाने-जैसी जगह ही नहीं है। सोचें, समझें और होश में आयें।

मन में सोच विचार बुलबुला पानी का,

दो दिन में मिट जाये नशा जवानी का।

सूरज निकलता है और धीरे-धीरे ढलते-ढलते अस्त हो जाता है। रात को चांद निकलता है साथ में टिमटिमाते तारे कितने शोभायमान होते हैं, लेकिन स्थिर कहां? समय बीतता जाता है, रात ढलती जाती है, सुबह होती है सूरज निकलता है न चांद दिखाई देता है न तारे। जवानी बनने-बिगड़ने का समय होता है। यह जवानी रूपी चांद कुछ दिनों के लिए निकलता है, साथ में प्राणी-पदार्थ रूपी तारे हमारे आसपास टिमटिमाते हैं और सब देखते-देखते लुप्त हो जाते हैं।

इस परिवर्तनशील संसार में इसे कौन रोक सकता है। जहां निरंतर परिवर्तन ही परिवर्तन हो, परिवर्तन ही जिसका नियम हो। लेकिन आदमी की सोच देखिये।

गणित लगाता है इतनी जल्दी हाथ से कोई चीज थोड़े खिसक जायेगी। अभी तो जवान हूं, दौलतमंद हूं, मेरे इतने लड़के-बच्चे हैं। आदमी सब कुछ अपने अधिकार में लेना चाहता है। आज है कल नहीं रहेगा इसमें कोई अंतर ही दिखाई नहीं देता।

कबीर साहेब ने कहा—

आज काल के बीच में, जंगल होगा बास।

ऊपर-ऊपर हल फिरै, ढोर चरेंगे घास ॥

आजु बसेरा नियरे, हो रमैया राम।

काल बसेरा बड़ि दूर, हो रमैया राम ॥

आज और कल में बहुत अंतर है साहब !

आज राजा दशरथ अपनी राज-सभा में राम की राजगद्दी की बात कहते हैं और वह भी कल हो जाना है। यह बात श्री राम को आज रात बता दी जाती है और वे उसके नियम-व्रत में लग जाते हैं। इधर राजा दशरथ सोचते हैं सिर से यह भार उतर जायेगा। शांति का जीवन जीऊंगा, लेकिन समय को कौन जानता है। आज आज है और कल काल के हाथ में होता है। फिलहाल पूरी अयोध्या प्रसन्न है। आज रात खुशी मना रहे हैं। सारी प्रजा श्री राम को चाहती है। सूर्यवंश को प्रकाशित करने वाला सूरज श्री राम राजा होने जा रहे हैं। सब प्रसन्न हैं राजा से लेकर प्रजा तक। लेकिन—

समय कैसा रंग भरता रात की तकदीर में।

कौन जाने क्या होगा सुबह की तकदीर में ॥

मिलन या बिछुड़न, राजा या भिखारी, तंदुरुस्त या रोगी, राजतिलक या वनवास। रात बीत गयी, सुबह हुई सूरज निकला, लेकिन सूर्यवंश का सूरज डूब गया। फूल खिलने से पहले ही मुरझा गया। बहार से पहले खींजा चली आयी। समय के बदलते देर नहीं लगती। सुबह हुई, मिला 14 वर्ष का वनवास। होना था राजतिलक हो गया तपस्वी वेष, फूलों पर चलना था चलना पड़ा कंकड़ और कांटों पर। राजा दशरथ ने सोचा था शांति का जीवन जीऊंगा, उन्हें क्या पता था अपने ही लोग बदल जायेंगे। वह शैर याद आता है—

हमें तो अपनों ने लूटा गैरों में कहां दम था।
मेरी किशती वहां डूबी जहां पानी कम था।

राजा दशरथ इस घटना को सम्हाल न पाये, उन्हें क्या पता था यह शुभ दिन मरण (दुख) का दिन हो जायेगा। सब बदल जाते हैं समय के साथ, जैसे मौसम बदलता रहता है। जिन्हें हम अपना यार, मित्र, पुत्र, शिष्य, भक्त कहते हैं सबकी यही दशा है। समय बदलता है, स्वार्थ बदलता है और सावधान न रहें तो आदमी का मन भी बदल जाता है। सभी के मन में था कि राम राजा हों। उनमें सारी योग्यता थी लेकिन नहीं हो पाये। बात तो यह है कि जिसे हम-आप आज जिस रूप में देखना चाहते हैं, वह परिवर्तित हो रहा है, स्थायी नहीं रहता। सब कुछ नश्वर है। इसे कबीर साहेब ने ठीक से देखा—कोई काहू का है नहीं, देखा ठोंक बजाय। राजा भर्तृहरि के लिए कहा जाता है वे रानी पिंगला में अति आसक्त थे, लेकिन पिंगला घोड़ा दरोगा में आसक्त थी, घोड़ा दरोगा नगर वेश्या में, नगर वेश्या की दृष्टि और कहीं थी।

इसलिए मैं कहता हूं खूब सोच ले दिल में,
क्यों फंसाये बैठा है जान अपनी मुश्किल में ॥

दिल से सोचो बुद्धि से नहीं। बुद्धि तो सदैव ठगती है, तर्क खड़ा करती है, सच्चाई से ओझल करती है, जीने की आशा बंधाती है, वासना से तृप्ति का आश्वासन देती है, मौत का ख्याल ही नहीं होने देती।

काल की चक्की अबाधगति से चल रही है, निर्माण और विनाश, जन्म और मरण यही संसार की गति है, इसे कोई रोक नहीं सकता। काल किसी को छोड़ता भी नहीं। चाहे रंक हो चाहे राजा, चाहे चपरासी हो चाहे राष्ट्रपति। नहीं इच्छा पूरी यहां नहीं जीवन इकरार। मेरी आखिरी आरजू थी। जब गुरुदेव जी ने मुझसे पूछा था—क्या आधा में पहुंच गये हो। मैंने कहा—यह आधा क्या है? तब गुरुदेव जी ने कहा था—श्री विशालदेव ने मुझे भी ऐसे ही पूछा था—आधे के हो यानी 40 वर्ष के हो, तब समझा। तब मैंने कहा—अभी 37 वर्ष का हूं। गुरुदेव जी ने कहा—तब तो अभी आधे

में नहीं पहुंचे हो। मैं कई दफा सोचता था जब गुरुदेव जी का शरीर शांत होगा, तब मेरी गिनती बूढ़ों में होगी यानी मैं बूढ़ा हो जाऊंगा तब साहेब का शरीर शांत होगा और तब तक काफी आध्यात्मिक सम्बल इकट्ठा हो जायेगा। अभी जवानी को गुरु सम्हाले हुए हैं फिर चिंता किस बात की। हालांकि किसी की जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं। मगर समय-समय से यही कल्पना होती थी। मेरी आरजू पूरी न हो सकी। कुछ महीने बाद गुरुदेव जी का शरीर शांत हो गया। दिल की अरमा आंसुओं में बह गये। मेरी सोच अधूरी रह गयी। अपना सोचा कभी नहीं होता, भाग्य करे सो होय। यह जानकर भी दिल है कि मानता नहीं और हुआ यूं—

उम्र दराज मांगकर लाये थे चार दिन।
दो आरजू में कट गये दो इंतजार में ॥

सब की यही दशा है। संसार सदा-सदा के लिए खो जायेगा। हमारा लक्ष्य हो आत्मशांति। इसको वही प्राप्त करता है जो शरीर और संसार की परिवर्तनशीलता तथा समस्त कार्य-पदार्थों की नश्वरता को ठीक से समझता है तथा आत्मा की सत्ता को भी ठीक से समझता है। वह प्रलय से पार है।

प्रलय से पार—आध्यात्मिक पथ है, अमरता का पथ है। व्यावहारिक दिशा में सुख से जीवन जीने का तरीका, और एकांत में चित्त को एकाग्र कर विषय वासनाओं की मलिनता से ऊपर उठकर समाधि में पहुंचना। जिसे कबीर साहेब ने कहा—सुख-दुख से इक परे परम पद, सो पद है सुखदाई। जो अपनी स्थिति में विराजमान हो जाता है, उसे दुनिया के हानि-लाभ, सुख-दुख, अनुकूलता-प्रतिकूलता हिला नहीं सकते। महापुरुषों का जीवन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। वे प्रलय से पार हो गये। वह पद है आत्मस्थिति। यही सिंहासन में चढ़कर जाना भी है।

परिवर्तन का अपना महत्त्व—परिवर्तन का अपना महत्त्व है चाहे किसी भी क्षेत्र में हो। मिट्टी, जल, वायु और अग्नि के परमाणुओं में क्रिया को कौन रोक सकता है? किसी चीज की उत्पत्ति, विकास, विनाश को

कौन रोक सकता है? प्राणियों में संयोग-वियोग को कौन रोक सकता है? बाल्मीकि जी कहते हैं—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।

संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥

(वाल्मीकि रामायण 2/105/16)

इस संसार में जड़ और चेतन दो ही तत्त्व सत्य हैं, जिसे दर्शनशास्त्र में प्रकृति और पुरुष कहते हैं, योग दर्शन में महर्षि पतंजलि ने दृश्य और द्रष्टा कहा है, गीता में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ कहा है। विज्ञान बाँड़ी और सोल कहता है।

इन दोनों के द्वारा ही यह सृष्टि-क्रम चलता है। जड़ तत्त्व सतत परिवर्तनशील है और एक तत्त्व का दूसरे तत्त्वों से मेल है। जीव सदैव असंग है और एकरस है लेकिन इन दोनों का संबंध काल ही जीवन है। इसी प्रकृति से शरीर भी बना है। जड़-पदार्थ स्वयं में क्रियाशील होने से सदा परिवर्तनशील हैं। यह उनका स्वभाव है। इसी नियम से शरीर निरंतर बदलता रहता है। वैज्ञानिकों का कहना है सात साल में शरीर के परमाणु एक बार पूरी तरह बदल जाते हैं, परंतु जीव में न परमाणुओं का मेल है और न ही परिवर्तन।

यद्यपि यह जगत सत्य है, पर मेरा जगत विनश्वर।

इस नित्य बदलते जग में, मैं सदचित शांत अनश्वर ॥

(गुरुदेव जी)

यद्यपि यह जगत सत्य है, इसका कभी अंत नहीं, पर अपना माना हुआ जगत निश्चित ही मिट जायेगा। यह नित्य बदलता जा रहा है, और इस नित्य बदलते जगत में, शरीर में, मैं नित्य सत्य हूँ। जीव सदा सत्य है, मन रहित है, शांत स्वरूप है। सत्य का बोध न होने की वजह से या सच्चे बोधदाता सद्गुरु न मिलने की वजह से हम अपने को शरीर मान लेते हैं। गाड़ी और गाड़ी चालक अलग-अलग होते हैं, मकान और मकान में रहने वाला अलग-अलग होते हैं उसी प्रकार शरीर और शरीर में रहने वाला जीव अलग-अलग हैं। लेकिन—

रूह और जिस्म का रिश्ता भी अजीब है।

जिंदगी भर साथ रहे मगर तवरुफ न हुआ।

जीवन भर शरीर में रहता है मगर जीव अपने को अलग नहीं कर पाता। अपने आप की पहचान नहीं कर पाता। और ऐसे ही अब तक अनेकों जन्म बीत गये, लेकिन अपने आप की पहचान कहां हुई। यदि आज भी नहीं हुआ तो फिर नाना योनियों में भटकना पड़ेगा। जीव जड़ तत्त्वों से भिन्न है, उसकी अलग सत्ता है। कल्याण प्रेमी को इसे ठीक से समझना होगा। इसके लिए बोधदाता सद्गुरु की भक्ति (समर्पण) जरूरी है। सूरज, चांद, सितारे, मिट्टी, पानी, आग, हवा ये तो सबकी दुनिया है। अनादि काल से है और रहेगी लेकिन हमारी दुनिया मिटने वाली है। पूरा प्रकृति-जगत प्रलय की छाया में है। जिसे हम स्थिर देखना चाहते हैं उसे काल मेट कर रख देगा, उसे कौन रोक सका है?

महाभारत में बात आती है—

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजा।

संहरतम् प्रजा कालं कालः शमयते पुनः ॥

काल प्राणियों की सृष्टि करता है और काल ही उनको मारता है। प्रजा का संहार करने वाले काल को काल ही शांत करता है।

“ऐसा संसार है। चमन के पक्षी उड़ते जाते हैं और चमन बदलते हुए बना रहता है। यह संसार उद्यान रसपूर्ण है, यह सूखता नहीं है। यह परिवर्तित होते हुए भी रहता है। परंतु मनुष्य आते-जाते रहते हैं। यही संसार का खेल है परंतु इन सबका द्रष्टा मैं सदा एकरस हूँ। दृश्य मिलता और छूटता है परंतु द्रष्टा द्रष्टा से कभी छूटता नहीं। (परमपूज्य गुरुदेव जी।)

जिसे संसार में देखना चाहते हैं, वह तो परिवर्तन बने, हम परिवर्तन का द्रष्टा बनें। नई सुबह नया जीवन जीयें।

कबीर यह संसार है, जैसा सेमल फूल।

दिन दस के व्यवहार में, झूठे रंग न भूल ॥

कबीर रसरी पाँव में, कहीं सोवै सुख चैन।

साँस नगारा कूँच का, बाजत है दिन रैन ॥

बीजक चिंतन

हठयोग द्वारा षटचक्र वेधन का स्वरूप

शब्द-87

कबिरा तेरो बन कन्दला में, मानु अहेरा खेलै ॥
 बफुवारी आनन्द मृगा, रुचि-रुचि सर मेलै ॥
 चेतत रावल पावन खेड़ा, सहजै मूल बाँधै ॥
 ध्यान धनुष ज्ञान बाण, जोगेश्वर साथै ॥
 षट चक्र वेधि कमल बेधि, जाय उजियारी कीन्हा ॥
 काम क्रोध लोभ मोह, हाँकि सावज दीन्हा ॥
 गगन मध्ये रोकिन द्वारा, जहाँ दिवस नहि राती ॥
 दास कबीरा जाय पहुँचे, बिछुरे संग औ साथी ॥

शब्दार्थ—कबिरा=मनुष्य। कन्दला=कंदरा, गुफा, हृदय। मानु=मन। अहेरा=शिकार। बफुवारी=बपु-बारी—शरीररूपी बाग। आनन्द मृगा=आनन्दरूपी मृग। रुचि-रुचि=इच्छानुसार। सर=बाण। मेलै=चलाना, फेंकना। चेतत=सावधान होना। रावल=राजा, श्रेष्ठ योगी। पावन=पवित्र। खेड़ा=छोटा गांव, शरीर। सहजै=सरल ढंग से। मूल बाँधै=मूलबंध मुद्रा। सावज=पशु। गगन=आकाश, ब्रह्मरंध्र, सहस्रार। संग औ साथी=तत्त्व प्रकृति।

भावार्थ—हे मनुष्य! तेरे हृदय-कानन में मन शिकार खेल रहा है ॥ 1 ॥ शरीररूपी बाग के आनन्द-मृग पर इच्छानुसार बाण चला रहा है, अर्थात् जीवन की सुख-शांति को नष्ट कर रहा है ॥ 2 ॥ योगी मन से सावधान हो जाता है। वह अपने शरीर को धौति-वस्ति आदि षटकर्म से शुद्ध कर लेता है और सरल ढंग से मूलबंध मुद्रा में स्थित हो जाता है ॥ 3 ॥ तत्पश्चात् योगेश्वर ध्यानरूपी धनुष पर ज्ञान का बाण चढ़ाकर लक्ष्य पर वार करता है ॥ 4 ॥ वह मूलाधार आदि छह चक्रों एवं तत्रस्थित कमलों को बेधकर और सहस्रार एवं गगन-गुफा में पहुंचकर प्रकाश कर देता है ॥ 5 ॥ वह योगी वहां से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि पशुओं को हांककर मानो खदेड़ देता है ॥ 6 ॥ सभी द्वारों को रोककर योगी गगन-गुफा सहस्रार में समाधिधीन हो जाता है। जहां पर न दिन है और न रात, किन्तु एक

समान स्थिति है ॥ 7 ॥ योगी उस उच्च स्थिति में पहुंच जाता है जहां पहुंचने के पहले ही तत्त्व-प्रकृतिरूपी संगी-साथी छूट जाते हैं ॥ 8 ॥

व्याख्या—मन की घातक-प्रवृत्ति तथा हठयोग की साधना द्वारा उसको मारकर समाधि में पहुंचने का कितना सुन्दर वर्णन इस शब्द में हुआ है, यह सोचते ही बनता है। सद्गुरु कहते हैं “कबिरा तेरो बन कंदला में, मानु अहेरा खेलै।” हे कबिरा, हे मानव! तेरी हृदय-कंदरा के वन में अर्थात् तेरे हृदय-कानन में मन निरंतर शिकार खेलता है। यहां मनुष्य के हृदय को वन और कंदरा दो रूपकों से व्यक्त किया गया है। कंदरा शब्द में मनुष्य के मन की गहराई की व्यंजना है और वन शब्द में उसकी विशालता एवं जटिलता की व्यंजना है। मनुष्य का हृदय बड़ा गहरा, बड़ा विशाल तथा बड़ा जटिल है। मनुष्य के हृदयरूपी इस बीहड़ वन में मन शिकारी निरंतर शिकार खेलता है। इसके शिकार का लक्ष्य बनता है ‘आनन्द-मृग’। मन-शिकारी के बाण से मनुष्य का ‘आनन्द-मृग’ मारा जाता है। “बफुवारी आनन्द मृगा, रुचि रुचि सर मेलै।” सद्गुरु इस शरीर को एक बाग एवं फुलवारी के रूप में भी चित्रित करते हैं। हृदय-कानन हो या शरीर-बाग हो, सार तात्पर्य एक है कि मनुष्य-जीवन के आनन्द-मृग को मन-शिकारी अपनी रुचि के अनुसार मार-मारकर क्षत-विक्षत कर देता है। हम इसको और सरल ढंग से कहें तो यह होगा कि अविवेकी मन हर समय इस ढंग से सोचता है जिससे जीवन का आनन्द, जीवन का सुख खो जाता है।

मनुष्य के हृदय-कानन में रहने वाला आनन्द-मृग सुरक्षित नहीं रहने पाता। अविवेकी मनरूपी शिकारी उसके पीछे लगा रहता है। मन जीवन के सुख पर बाण चलाता रहता है। मनुष्य को रोटी मिलती है, कपड़े मिलते हैं, रहने के लिए घर भी मिलता है, परन्तु हरदम मन कुछ ऐसा सोचता है कि जिससे जीवन का सुख खोया रहता है। हर आदमी के हृदय-कानन का आनन्द-मृग क्यों मरा-मरा है? क्यों आदमी हर समय पीड़ा-पीड़ा का अनुभव करता है? क्योंकि मन के सोचने का तरीका ही मूर्खतापूर्ण है। बाहर से हम चाहे जितने सम्पन्न, सम्मानित तथा प्रतिष्ठित हो जायें, जब

तक हमारे मन के सोचने का तरीका अच्छा नहीं होगा, तब तक हम दुखी बने रहेंगे।

जो वस्तुएं हमारे पास हैं उनमें हम संतुष्ट नहीं रहते, किन्तु जो नहीं हैं, उनके अभाव-अनुभव, उनकी आकांक्षा एवं कल्पना को लेकर जलते रहते हैं। हम अपने साथियों की रुचियों, उनके स्वभावों तथा उनके सोचने के तरीकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर उनसे विनम्रतापूर्वक सामंजस्य स्थापित करने एवं तालमेल बैठाने का प्रयास नहीं करते, किन्तु उनके प्रति नाना प्रकार के संदेहों में उलझकर मन में तिल का ताड़ बनाते हैं और अपने साथियों से सदैव तनावग्रस्त स्थिति में रहते हैं। विषयों की इच्छा ऐसी आग है जो भोग रूपी आहुति पाकर प्रज्वलित होती है। विषयासक्तिवश हम इस तथ्य को नहीं समझते और विषयों में अपना पतन समझते हुए भी दीप-पतिंगेवत उनमें जलते हैं। अज्ञान और विषयासक्ति के कारण मन के सोचने का तरीका बहुत खराब हो गया है, इसलिए हमारे जीवन का आनन्द उड़ गया है। यही मानो मन-शिकारी द्वारा हमारे हृदय-कानन तथा जीवन-फुलवारी के आनन्द-मृग को मारना है।

“चेतत रावल पावन खेड़ा” श्रेष्ठ योगी इन मानसिक दुखों से मुक्त होने के लिए सावधान होता है। वह पहले अपने खेड़ा को, इस छोटे-से गांव शरीर को पावन करता है। हठयोगी अपने शरीर को पहले धौति, वस्ति, नेति, नौलिकी, त्राटक तथा कपालभाति इन षट्कर्मों द्वारा शुद्ध करते हैं।¹ फिर “सहजै मूल बाँधे” अर्थात् अभ्यस्त होने से वे सहज ही मूलबंध-मुद्रा में स्थित हो जाते हैं। गुदा-द्वार पर बायें पैर का गुल्फ (एड़ी के ऊपर की गांठ) रखकर योनि² आकुंचनपूर्वक मेरुदंड में नाभि-ग्रन्थि को दबाकर शिश्न के मूल पर दाहिने पैर

का गुल्फ दृढ़ रूप से जमा देने से मूलबंध मुद्रा की साधना होती है। इस प्रकार मूलबंध मुद्रा में स्थित होकर श्रेष्ठ योगी ध्यान के धनुष पर ज्ञान का बाण चढ़ाता है और मन को मार गिराता है।

“षट् चक्र बेधि कमल बेधि, जाय उजियारी कीन्हा।” हठयोगी इसके लिए बड़ी कठिन साधना करता है। वह है षट्चक्र का वेधन। उसका विवरण इस प्रकार है—

कहा जाता है कि इस शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियां हैं, जिसमें ईडा, पिंगला और सुषुम्णा मुख्य हैं। मेरुदंड के बाहर बायीं ओर से ईडा नाड़ी तथा दायीं ओर से पिंगला नाड़ी लिपटी हुई हैं। मेरुदंड के भीतर कन्द भाग से आरम्भ होकर सुषुम्णा नाड़ी कपाल में स्थित सहस्रदल कमल में जाती है। जैसे केले के स्तंभ में परतें होती हैं, इसी प्रकार बज्रा, चित्रिणी एवं ब्रह्मनाड़ी—सुषुम्णा में—तीन परतें हैं। जाग्रत कुण्डलिनी ब्रह्मनाड़ी द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक जाकर पुनः लौट आती है। कहा जाता है मेरुदंड के भीतर ब्रह्मनाड़ी में छह कमल पिरोये हुए-से हैं, ये षट्चक्र कहे जाते हैं अर्थात् छह स्थानों पर नाड़ी की ग्रन्थियां चक्र के समान प्रतीत होने से चक्र कही जाती हैं।

छह चक्र ये हैं—(1) मूलाधार, (2) स्वाधिष्ठान, (3) मणिपूर, (4) अनाहत, (5) विशुद्ध तथा (6) आज्ञा।

षट्चक्र-विवरण तथा वेधन-क्रिया

मूलाधार—यह चक्र गुदा स्थान में माना है, यह चतुर्दल कमलयुक्त है। यह रक्तवर्ण है तथा इसका लोक ‘भू’ माना है। यहां से “व, श, ष, स” इन चार वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां द्विरण्ड नामक सिद्ध और डाकिनी देवी अधिष्ठात्री तथा गणेश देवता माना है। यहां छह सौ श्वासों का जप माना है।

इस मूलाधारचक्र को वेधने के लिए पहले गणेश-क्रिया करके गुदा साफ करते हैं। फिर जलवस्ति करते हैं। नाभि तक डूबे हुए जल में बैठकर उत्कट आसन द्वारा गुदा का आकुंचन-प्रसारण कर जल को ऊपर खींचते हैं। इसी को जलवस्ति कहा जाता है। इस प्रकार

1. धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकी त्राटकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्मणि समाचरेत् ॥

(घेरंड संहिता 1/12)

बीजक के 71वें शब्द में भी धौति आदि षट्कर्मों का विवरण दिया गया है।

2. गुदा एवं शिश्न के बीच का स्थान ‘योनि’ कहलाता है।

तीन बार जल को ऊपर खींचकर छोड़ देने से यह कार्य सिद्ध होता है। तब इस चतुर्दल कमलयुक्त मूलाधारचक्र को वेधकर वायु ऊपर चढ़ाते हैं।

ऊपर जो उत्कट-आसन कहा गया है, उसका लक्षण यह है—पैर के दोनों अंगुष्ठों द्वारा मूतका का स्पर्श करते हुए दोनों गुल्फों (एड़ी के ऊपर की गांठों) को निरालम्ब भाव से रखकर, उन पर गुदाद्वार को स्थापन करने से उत्कटासन कहलाता है। गुदा का मल साफ करने की एक यौगिक क्रिया को गणेश-क्रिया कहते हैं।

स्वाधिष्ठान—यह चक्र नाभि से छह अंगुल नीचे, पेड़ू स्थान, शिशन के मूल में माना है। यह छहदल कमलयुक्त है। यह सिन्दूर वर्ण है तथा इसका लोक 'भुवः' है। यहां से "ब, भ, म, य, र, ल" इन छह वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां वाण नामक सिद्ध और राकिणी देवी अधिष्ठात्री तथा ब्रह्मा देवता माना है। यहां छह हजार श्वासों का जप माना है।

इस स्वाधिष्ठानचक्र को वेधने के लिए गजक्रिया करते हैं। लोह या शीशे का बारह अंगुल का पतला गज बनाकर, शिशन में प्रवेशकर उसे साफ करते हैं, फिर शिशन से क्रमशः जल, दूध और शहद खींचते हैं। शहद खींचने पर यह क्रिया सिद्ध होती है। गुदाद्वार से अपानवायु को चढ़ाकर स्वाधिष्ठानचक्र वेधते हुए अपान वायु को समान वायु में मिलाते हैं।

मणिपुर—यह चक्र नाभि स्थान में माना है। यह दशदल कमलयुक्त है। यह नीलवर्ण है तथा इसका लोक 'स्वः' है। यहां से "ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ" वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां रुद्र नामक सिद्ध और लाकिनी देवी अधिष्ठात्री एवं विष्णु देवता माना है। यहां भी छह हजार श्वासों का जप माना है।

इस मणिपूरचक्र को वेधने के लिए 'धौति-क्रिया' करते हैं। अर्थात् रेशम आदि के कोमल वस्त्र की चार अंगुल चौड़ी और पन्द्रह हाथ लम्बी धोती को सायंकाल मीठे रस में डुबा देते हैं। उसे प्रातःकाल निगलते (लीलते) हैं। उसका एक कोना पकड़े रहते हैं और खड़े होकर नाभि को पृष्ठभाग में आकुंचन करके पुनः बाहर

निकालते हैं। ऐसा तीन बार करने से यह क्रिया सिद्ध होती है। फिर नाभि से वायु उठाकर मणिपूरचक्र वेधते हैं और अपान-समान वायु को हृदयस्थ प्राण वायु में मिलाते हैं।

अनाहत—यह चक्र हृदय स्थान में माना है। यह द्वादश दल कमलयुक्त है। यह अरुणवर्ण है तथा इसका लोक 'महः' है। यहां से "क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ" इन बारह वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां पिनाकी सिद्ध और काकिनी देवी अधिष्ठात्री एवं महादेव देवता माना है। यहां भी छह हजार श्वासों का जप माना है।

इस अनाहतचक्र को वेधने के लिए 'कुंजल क्रिया' करते हैं। पेट भर जल पीकर और सवा हाथ रस्सी की दातून को मुख में डालकर चलाते हैं। फिर जल को गिरा देते हैं। इस प्रकार तीन बार करने पर यह क्रिया सिद्ध होती है। फिर अनाहतचक्र वेधते हैं और अपान, समान, प्राण को उठाकर कंठस्थ उदान वायु में मिलाते हैं।

विशुद्ध—यह चक्र कंठ स्थान में माना है। यह षोडसदल कमलयुक्त है। यह धूम वर्ण है तथा इसका लोक 'जनः' है। यहां से "अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः" इन सोलह स्वरों की उत्पत्ति मानी है। यहां छगलांड सिद्ध और शाकिनी देवी अधिष्ठात्री एवं जीवात्मा देवता माना है। यहां एक हजार श्वासों का जप माना है।

इस विशुद्धचक्र को वेधने के लिए 'लम्बिका योग' करते हैं। इसमें दूध-आहार करते, बोल-चाल-संगत सबका संयम करते, मक्खन और सेंधा नमक से जिह्वा की तली रगड़ते, प्रातःकाल जिह्वा दोहन करते, लोह यन्त्र से भी दोहनकर जिह्वा को बढ़ाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर जिह्वा के नीचे चाम को काट देते हैं, इस प्रकार जिह्वा को बढ़ाकर और उलटकर उर्ध्वद्वार में लगाते हैं। ऊपर खोपड़ी का एक जलीय विकार चूता है, उसे अमृत मानकर पीते हैं, जिससे शरीर में स्फूर्ति बढ़ती है। तब वायु को उठाकर विशुद्धचक्र को वेधते हैं।

आज्ञा—यह चक्र भृकुटि स्थान (दोनों भौहों के बीच) में माना है। यह द्विदल कमलयुक्त है। यह श्वेत वर्ण है तथा इसका लोक 'तपः' है। यहां से 'ह, क्ष' इन दो वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां महाकाल सिद्ध और हाकिनी देवी अधिष्ठात्री एवं परमात्मा देवता माना है। यहां एक हजार श्वासों का जप माना है।

इस आज्ञाचक्र को वेधने के लिए 'नेति क्रिया' करते हैं। अर्थात् नाक में एक बीता बत्ती (सूत्र) चलाकर, उसे साफ करते हैं। फिर कंठस्थ विशुद्धचक्र से उदान वायु को उठाकर आज्ञाचक्र वेधते हैं। यानी रेचक-पूरक-कुम्भक (प्राणायाम) करके आज्ञाचक्र को वेधकर वायु को ऊपर ले जाते हैं। जब वायु ऊपर पहुंच जाता है, तब जिह्वा को उलटकर ऊर्ध्वद्वार में लगा देते हैं। जिससे वायु लौट न आये।

इस प्रकार षटचक्र एवं तत्र स्थित षट कमलों को वेधकर दशमद्वार¹ सहस्रार (सत्यलोक) में जाकर ज्योति प्रकाश कर देते हैं। अर्थात् वहां वायु का निरोध होने से जो अग्नि का प्रकाश होता है, उसी को ब्रह्म का स्वरूप मानकर योगी लोग बेभान होते हैं। इस स्थान का भी एक हजार श्वासों का जप माना है।

मुख्य इन छह चक्रों के अतिरिक्त आज्ञाचक्र के ऊपर सहस्रार या सहस्रदल कमल माना है और उसके ऊपर भी आठवां सुरति कमल माना है। इस प्रकार कहीं-कहीं अष्टकमल का वर्णन होता है।

इनमें वर्णित सिद्ध, अधिष्ठात्री देवी एवं देवतादि सब कल्पित हैं। वर्णों का उच्चारण भी कंठ, तालू, ओष्ठादि से ही होता है, जो प्रत्यक्ष है। भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ. पांडुरंग वामन काणे 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में तन्त्र सिद्धांत का वर्णन करते हुए लिखते हैं—“चक्रों को बहुधा लोग आधुनिक शरीर-विज्ञान द्वारा प्रदर्शित स्नायुओं के गुच्छों के समान मानते हैं, किन्तु बात वास्तव में वैसी है नहीं। संस्कृत ग्रन्थों में जिस कुंडलिनी एवं चक्रों का वर्णन है, वे स्थूल देह से

1. दो नाक, दो कान, दो आंख, मुख, गुदा और शिश्न—ये नौ द्वार (बड़े-बड़े छिद्र) हैं और दसवां द्वार सिर के तालु में माना है जहां बच्चों का लप-लप करता है।

सम्बन्धित नहीं हैं, प्रत्युत वे सूक्ष्म-देह में अवस्थित होते हैं।”² अब यही सोचिए कि जब ये छह चक्र स्थूल शरीर से सम्बन्धित नहीं हैं तो इनके वेधने की बात भी गलत है। सूक्ष्म-शरीर तो केवल प्राण एवं वासनाओं का पुंज माना जाता है, उसमें चक्र-वक्र का क्या मतलब हो सकता है! वस्तुतः यह श्वास रोकने की प्रक्रिया के अलावा कुछ नहीं है।

इस योगी की चित्तवृत्ति जब सुरति-कमल में पहुंचती है और वहां की ज्योति में लीन हो जाती है तब वहां से कामादि पशु मानो हांक दिये गये। वहां सारी बाह्य वृत्ति समाप्त होकर योगी केवल नाद या ज्योति में ही लीन रहता है।

“गगन मध्ये रोकिन द्वारा, जहाँ दिवस नहीं राती। दास कबीरा जाय पहुँचे, बिछुरे संग औ साथी।” गगनगुफा में योगी जब पहुंचता है और नीचे के द्वार रोककर जब नाद एवं प्रकाश में लीन होता है तब वहां बाहरी संसार से कोई मतलब नहीं रह जाता। वहां न दिन है और न रात। वहां तो एकरस आनन्दमग्नता है। योगी के तत्त्व-प्रकृतिरूपी सारे संगी-साथी वहां पहुंचने के पहले ही छूट गये रहते हैं। वहां वह केवल अकेला होता है। वहां वह मन के द्वंद्व से मुक्त होता है। हठयोगी लोग प्रसुप्त कुंडलिनी-शक्ति को साधना द्वारा जाग्रतकर सहस्र-चक्र में ले जाते हैं। सहस्र-चक्र तक शारीरिक-मानसिक प्रभाव रहता है और समाधि-भंगकाल में वासनाओं का आक्रमण योगी पर हो सकता है, परन्तु कहते हैं कि उसके भी ऊपर जो 'सुरति कमल' है, उसमें पहुंच जाने पर योगी को भय नहीं रहता।

अब हम इस पर थोड़ा विचार कर लें। पहली बात तो उक्त साधना सबके क्या, बहुतों के वश की बात नहीं है। इसमें बहुत बातें काल्पनिक हैं, यह अलग बात है। दूसरी बात हठयोग द्वारा जब तक साधक चाहे आज्ञाचक्र में, चाहे सहस्रार में और चाहे सुरति कमल में, हठयोगी कुछ भी नाम लें, पहुंचकर समाधि में रहेंगे तब तक संसार भूला रहेगा और जैसे ही उससे उतरकर व्यवहार में आयेंगे वैसे पुनः वासनाओं में चंचल हो जायेंगे।

2. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 5, पृष्ठ 24।

अतः विचार, अनासक्ति तथा साक्षी-भाव की साधना ही सरल तथा सुरक्षित है। जड़-चेतन तथा आत्मा-अनात्मा का निरन्तर विचार करते-करते देह तथा देह-सम्बन्धी सारे प्राणी-पदार्थों से अनासक्ति हो जाती है। अनासक्ति के बाद साक्षी-भाव दृढ़ हो जाता है। साधक अभ्यासकाल में मन का साक्षी बनकर उसे शांत कर देता है और संकल्पहीन होकर स्वरूपस्थ एवं आत्मस्थ हो जाता है। जब वह व्यवहार में आता है, तब भी उसका चित्त समस्त दृश्यों से अनासक्त होने से वह असंग होता है और खाते-पीते तथा अपने शरीर का

सारा व्यवहार करते हुए भी वह साक्षीभाव में बरतता है। यही संतों का सहजमार्ग, राजमार्ग तथा सुरक्षित पथ है। हठयोगी तो शब्द और ज्योति में लीन होता है जो जड़-भास है। विवेकी सारी आसक्ति तथा संकल्पों को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में लीन होता है जो अपनी आत्मा है। कबीर साहेब ने पहले हठयोग साधा था इसलिए वे उस पर जगह-जगह प्रकाश डालते हैं, परन्तु वे सावधान करते हैं—“योगिया के नगर बसो मति कोई” आदि। वे अपना पथ स्वरूपविचार एवं स्वरूपस्थिति ही बताते हैं।

एकता से ही राष्ट्रोन्नति हो सकती है

लेखक—डॉ. रणजीत सिंह

संत शिरोमणि निरंकारी बाबा हरदेव सिंह जी महाराज का नारा है कि “एक को जानो, एक को मानो, एक हो जाओ”, लेकिन यह तभी संभव है कि जब हम नशा, निंदा, ईर्ष्या, नफरत, वैर, डाह एवं विरोध आदि दुर्गुणों को त्याग कर आपस में एक दूसरे को गले लगाकर भाईचारा, एकत्व एवं अपनत्व को कायम रखें।

देश की एकता, अखण्डता एवं अक्षुण्णता को बनाये रखने के लिए वर्ण, जाति, मत-मजहब को लेकर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं करना चाहिए। साथ ही व्यक्तिगत स्वार्थ भावना से ऊपर उठकर सबके हित के लिए सोचना चाहिए। यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि सबके हित में ही अपना हित समाया हुआ है। संस्कृत में एक सूक्ति कही गयी है कि ‘संधे शक्तिः सर्वदाः’ अर्थात् समूह में ही सदैव शक्ति होती है। हिन्दी में भी कहा गया है कि “एक और एक ग्यारह होते हैं।” अंग्रेजी में भी कहावत है कि “Union is Strength” अर्थात् एकता ही शक्ति है। उदाहरणस्वरूप अगर हम पृथक रेशों से हाथी को बांधें तो हाथी आसानी से उन रेशों को तोड़कर मुक्त हो जाता है लेकिन जब उन्हीं रेशों को बंटकर रस्सी बनाकर बांधते हैं तो हाथी उसे तोड़

नहीं पाता है। पर्वतीय अंचल के पुलों में लोहे के तारों से बंधे रस्सों से ही झुला पुल बनाया जाता है। अधिकारी किसी एक व्यक्ति की बात अनसुना कर देता है लेकिन जब जनसैलाब किसी समस्या को लेकर उस अधिकारी के पास जाता है तो उनका ज्ञापन अधिकारी दौड़कर लेता है तथा समस्या समाधान की तारीख भी बता देता है। इससे साबित होता है कि मानव एकता में बहुत बड़ा बल है, लेकिन मानव अपनी एकता से अनभिज्ञ रहता है।

एक बूढ़ा किसान था जिसके चार लड़के थे जो आपस में लड़ते रहते थे। उस किसान ने लड़कों को मिलजुलकर रहने के लिए कहा तथा अपने रिश्तेदारों, नातेदारों एवं ग्रामवासियों से भी कहलवाया, फिर भी वे लड़के न माने, आपस में लड़ते ही रहे। तब उस किसान ने सभी लड़कों को पास बुलाकर एक-एक लकड़ी देकर उनको तोड़ने के लिए कहा तो उन लड़कों ने उन्हें आसानी से तोड़ दिया। इसके पश्चात् उसने चारों लकड़ियों का गट्टर बनाकर उस गट्टर को तोड़ने के लिए कहा तो उसे कोई भी नहीं तोड़ पाया। तब उसने अपने लड़कों से कहा—जिस प्रकार तुम सब अलग-अलग

लकड़ियों को तोड़ दिये। लेकिन लकड़ी के गट्टर को न तोड़ पाये। इसी प्रकार एक साथ मिलजुलकर रहने पर तुम्हारा कोई भी बाल बांका न कर सकेगा लेकिन अलग-अलग रहने से बाहरी शक्तियां तुम्हारा नुकसान कर सकती हैं।

एक बार एक बहेलिये ने कबूतरों को फंसाने के लिए अपना जाल बिछाकर उस पर दाने बिखेर दिये। दानों के लोभ में कबूतर जाल में फंस गये। उन कबूतरों में से एक सयाने कबूतर ने कहा कि हम एक साथ मिलकर उड़ते हैं। उसके कहने से सभी कबूतर उस जाल को लेकर सामूहिक रूप से उड़कर अपने मित्र चूहे के पास जाकर जाल कटवाकर मुक्त हो गये। सच ही कहा गया है कि एकता में बहुत बड़ी शक्ति है।

मनुष्य बांध बनाकर वर्षा का जल एकत्रित करता है तथा उस जल से नौकायन, सिंचाई, बिजली बनाना, मछली पालन एवं पर्यटन आदि क्रियाएं कर लाभ कमाता है अन्यथा पानी फालतू में बह जाता है। बूंद-बूंद से सागर बनता है। कोशिकाओं के मिलने से शरीर का निर्माण होता है। एक-एक दाना अन्न से ही अन्नराशि बनती है। एक-एक धागे से कपड़ा बनता है। एक-एक कण से ब्रह्माण्ड बना है। सात सुरों के मिलने से ही कर्णप्रिय सप्तसुर बनता है व सात रंगों के मिलने से ही इंद्रधनुषी छटा बनती है। चींटियां किसी मरे हुए जानवर को लक्षित स्थान तक ले जाने के लिए समूह में एकत्रित होकर ही उसे ले जाती हैं। एक-एक रुपये से ही मिलकर बहुत बड़ी धनराशि एकत्रित हो जाती है। एकता के द्वारा ही देश की उन्नति होती है। युद्ध में भी जिस देश के सिपाहियों में अनुशासन एवं एकता कायम रहती है वही देश विजेता होता है। अंग्रेजों की सेनाओं ने एकत्रित व संगठित होकर ही युद्ध किया तथा विजेता भी रहे। वे “फूट डालो तथा राज करो” की नीति पर चलते रहे क्योंकि भारतीयों की एकता व संगठन से वे भी डरते थे। एक बार हिटलर की सेना कदमताल करते हुए पुल पार कर रही थी जिससे कदमों की व पुल की

आवृत्ति समान होने से अनुनाद उत्पन्न हो गया जिसके कारण पुल ध्वस्त हो गया। तभी से हिटलर ने निर्देश दिया कि किसी भी पुल को सेना कदम से कदम मिलाते हुए पार नहीं करेगी। प्राचीन भारतीय परंपराओं में किसी भी समस्या पर चिंतन, मनन व मंथन हेतु एक मंच पर बैठकर समाधान किया जाता था क्योंकि वे जानते थे कि किसी विकट समस्या का समाधान एक व्यक्ति नहीं कर सकता। बांस इकट्ठे रहते हैं लेकिन जब वे अलग-अलग होकर आपस में रगड़ते हैं तो आग निकलती है, जिससे वे तो नष्ट होते ही हैं, तथा उनके आस-पास के जंगल भी नष्ट हो जाते हैं। संयुक्त परिवार में मनुष्य कितना खुशहाल रहता था। बड़े-बूढ़े, दादा-दादी व नाना-नानी आदि नन्हें-मुन्नों को तरह-तरह की पहेलियां/कहानियां आदि सुनाकर उनका ज्ञानवर्द्धन करते थे, लेकिन आज के एकल परिवारों में ऐसा कुछ भी नहीं होता है जिससे बच्चों का मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है जिससे क्षुब्ध होकर माता-पिता अपने बच्चों को काउंसलरों के पास ले जाकर उचित सलाह लेते हैं।

एक-एक ईंट से ही पूरा मकान बनता है। एक-एक सींक से ही झाड़ू बनती है तथा एक-एक वृक्ष से ही मिलकर जंगल का निर्माण होता है। जरा सोचिए यदि झाड़ू की सींके अलग-अलग कर दी जायें तो सफाई संभव ही नहीं है।

निष्कर्ष स्वरूप यही कहा जा सकता है कि देश की एकता, अखण्डता व अक्षुण्णता तभी तक कायम रहती है जब तक उस देश के नागरिक राष्ट्रीय भावना से मिल-जुलकर प्रेम एवं सौहार्द के साथ रहते हैं लेकिन जैसे ही वे अलगाव व बिखराव की तरफ बढ़ते हैं देश विभाजन की समस्या उठ खड़ी होती है। हम देशवासियों का परम पुनीत कर्तव्य है कि भले ही मुसीबतों/दुश्चारियों के पहाड़ आ जायें लेकिन अपने एकत्व/अपनत्व को कभी नहीं खोना चाहिए जिससे देश में एकत्व, अपनत्व, भाईचारा, सुख-शान्ति एवं अमन-चैन कायम रहे ताकि मानवता का कल्याण होता रहे।

प्रेम सुधारस

लेखक—रामदास

जिस प्रकार धरती पर मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति, पहाड़, नदी, झरने आदि सबको पोषण देने वाला जल है इसी प्रकार मानव जीवन में माता-पिता, पति-पत्नी, सास-बहू, देवरानी-जेठानी, भाई-भाई, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य आदि सभी सम्बन्धों को मधुर और दीर्घायु बनाने वाला यदि कुछ है तो वह है 'प्रेम'। जब हमारी वाणी में प्रेम होता तो जो भी बोलते हैं वही कर्णप्रिय मधुर संगीत बन जाता है। जब कर्मों में प्रेम होता है तो प्रत्येक कर्म पूजा बनकर समाज में भौतिक समृद्धि लाता है। जब मन में प्रेम होता है तो सब तरफ से निष्काम सेवा का आत्मतृप्ति रूपी अमृत फल मिलता है। जब हमारी दृष्टि में प्रेम आ जाता है तो संसार के समस्त प्राणी 'आत्मवत सर्वभूतेषु' दिखने लगते हैं। अंतःकरण की ऐसी परम दिव्य स्थिति में फिर ऊंच-नीच, मैं-मेरा, छल-छद्म, ईर्ष्या-घृणा एवं हिंसा-हत्या कहां रहेगी! चित्त की ऐसी अवस्था के आने का मतलब अंतःकरण समता भाव को प्राप्त हो गया। यहीं पर सद्गुरु कबीर पुकार उठते हैं—“घाव काहि पर घालों, जित देखों तित प्राण हमारो।” “कबीर सोई पीर है, जो जाने पर पीर।”

प्रेम में पाने की नहीं बल्कि देने की भावना होती है। जहां किसी भी परिवार, समाज, संस्था, पार्टी में विघटन होता है तो उसका कारण भोजन, कपड़े, मकान की कमी नहीं प्रत्युत प्रेम की कमी होती है। प्रेम जंगल का पौधा नहीं बल्कि गमले का वह फूल है जिसकी हर दिन निगरानी रखनी पड़ती है और त्याग के जल से सींचना पड़ता है। जैसे किसी पौधे को हरा-भरा रहने के लिए तीन चीजों की आवश्यकता होती है—हवा, प्रकाश और जल। इनके बिना कोई पौधा पौधा नहीं रह सकता। इसी प्रकार हमारे सम्बन्धों में खुशियां और आपसी प्रेम बढ़ाने के लिए तीन तत्त्वों की आवश्यकता पड़ती है। वे हैं—सहनशीलता, त्याग और विनम्रता।

सहनशीलता—कृषि, राजनीति, वकालत, व्यापार, डाक्टरी, इन्जीनियरिंग का क्षेत्र हो या परिवार, समाज,

संस्था रूप कुछ मनुष्यों के समूह को चलाना हो या मन-इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर आत्मकल्याण करने का क्षेत्र हो, सब तरफ सहनशील होने की बड़ी आवश्यकता है। क्योंकि सभी स्थितियों में कोई जरूरी नहीं है कि हम जो चाहते हों सब हमारे अनुकूल ही हो। किसानों में प्राकृतिक प्रकोप के कारण नुकसान हो सकता है। राजनीतिक चुनाव में हार हो सकती है। व्यापार में घाटा हो सकता है। परिवार में धन, जन, मान की हानि हो सकती है ऐसी स्थिति में क्या करें? क्या पेट पकड़कर बैठ जायें? नहीं, धैर्यवान होकर सहनशील बनें और आगे बढ़ने के लिए पुरुषार्थ करते रहें।

प्राणी-पदार्थों के हानि-लाभ को मन में बहुत तूल न दें। इसको बहुत महत्त्व देंगे तो आपसी सम्बन्धों में दरार आना निश्चित है। यदि सम्बन्धों में दरार आई तो प्रेम समाप्त। प्रेम के अभाव में सब तरफ असहयोग का आन्दोलन चलने लगता है। किसी संगठन में सहयोग के बिना आध्यात्मिक उन्नति तो दूर भौतिक उन्नति भी रुक जाती है। हमारी असली हानि क्या है इस बात को हम समझें। धन की हानि होना हानि नहीं है बल्कि मन का अशान्त होना हानि है। कटु बोलना हानि है। रिस्तों में कटुवाहट आना हानि है। इस हानि की भरपाई धन नहीं कर सकता। विवेकवान के लिए धन-हानि सामान्य-सी घटना है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडिसन के कारखाने में आग लगी। अग्निकाण्ड की दुर्घटना को सुनकर उनका बेटा चार्ल्स उनसे मिलने आया तो उसने देखा कि एडिसन आग की लपटों को एक किनारे खड़े देख रहे हैं। बेटे को देखते ही उन्होंने कहा—बेटे! अपनी मां को बुला लाओ, इस तरह की चीज उन्हें जीते जी कभी देखने को नहीं मिलेगी। उन्होंने गंभीर और शान्त भाव से कहा—“तबाही की बड़ी कीमत है। इससे हमारी सारी गलतियां जल जाती हैं और नये सिरे से हम किसी काम को शुरू कर सकते हैं।” बीस लाख डालर की सम्पत्ति जल गयी, बहुत-से कीमती व आवश्यक कागजपत्र जलकर राख हो गये फिर भी वे तटस्थ थे।

सुखी होना बहुत बड़ी कला है। जिस चीज की जरूरत नहीं है, फिर भी यदि वह मुफ्त में मिले तो उधर नजर न डालें। जिस चीज की जरूरत है लेकिन मिलना संभव नहीं है उस पर भी नजर कभी न डालें। आज सब इसलिए दुखी हैं कि तिजोरी पैसे से नहीं भरी है लेकिन दुख का कारण है कि मन प्रेम एवं अनासक्ति से खाली है।

पूज्यवर गुरुदेव सद्गुरु श्री अभिलाष साहेब जी कहते थे—‘धन धन नहीं है जन धन है। व्यवहार में जन धन है और परमार्थ में मन धन है।’ कुछ शब्दों का यह वाक्य अपने आप में बहुत अर्थ समेटा हुआ है, जो मनन करने योग्य है।

जिस प्रकार बाहर से प्राणी-पदार्थों के हमले आते हैं उसी प्रकार अन्दर से मनोविकारों के हमले आते हैं। असंयम से या प्रारब्धवशात् कम-विशेष शारीरिक कष्ट भी सबको आते हैं। ऐसी स्थिति में कितने लोग संयम और धीरज न रखकर स्वजनों पर चीखते-चिल्लाते रहते हैं। इससे उनकी तकलीफ तो दूर होती नहीं बल्कि स्वजनों से मिलने वाली सेवा से भी वे हाथ धो बैठते हैं। सुखद परिस्थिति में यदि हम सहनशील एवं मधुरभाषी होकर सबसे प्रेम बनाये रखेंगे तो हमारे मित्रों-हितकारियों की संख्या बढ़ जायेगी। दुखद परिस्थिति में यदि हम धैर्य खोकर दुःखों से विचलित होकर क्रोध करेंगे, कटु बोलेंगे तो मित्र-स्वजन भी विमुख हो जायेंगे। फिर दुख में कौन सहारा बनेगा? इसलिए हर हाल में सहनशीलता, प्रेम, गम, संतोष ही व्यक्ति के लिए कल्याणकारी हैं। बिना किसी को दोष दिये जो निर्विकार भाव से तन-मन की उपाधियों को सहता है वह सहनशील, तितिक्षु साधक है। स्वामी शंकराचार्य जी कहते हैं—

सहनं सर्वं दुःखानामप्रतीकारपूर्वकम्।

चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते ॥

अर्थात्—बदला लेने की भावना से रहित रहकर चिन्ता-विलाप न करते हुए निर्विकार भाव से सभी दुखों को सहना तितिक्षा (सहनशीलता) कहलाती है।

प्रेम के अभाव में सहनशीलता आ ही नहीं सकती। पारिवारिक कलह के साथ-साथ धर्म के क्षेत्र में जो

अनेक मत-पंथों के लोग एक दूसरे को नास्तिक, काफिर, बेदीन, नरकगामी आदि कहते हैं, यह सब प्रेम-शून्यता का परिणाम है। जहां प्रेम है वहां विचार-भिन्नता को नजरअंदाज कर पति पत्नी की, पत्नी पति की, भाई भाई की, पड़ोसी पड़ोसी की, एक सम्प्रदाय वाले दूसरे सम्प्रदाय वालों की सहते हैं। सद्गुरु श्री अभिलाष साहेब जी कहते थे—विमत होना बुरा नहीं है विवाद होना बुरा है। साथियों का सहना और प्रेम बनाये रखना यह बहुत बड़ी बात है।

त्याग—प्रेम को निभाने के लिए दूसरी चीज है ‘त्याग’। जो व्यक्ति थोड़े-थोड़े रुपये-पैसे, जमीन, सुख-सम्पत्ति आदि के लिए दूसरों से रार ठानता रहेगा, जो स्वार्थवश भाई-भतीजों का हक मारेगा, साधारण-सी बात के लिए स्वजनों पर मिथ्या दोषारोपण करेगा, एक पैसा भी जो दूसरों की सेवा में लगाना नहीं चाहेगा प्रेम को वह क्या खाक जानेगा !

आज पैसे की कमाई लोग खूब कर रहे हैं लेकिन रिस्तों में टुटन आ रही है। भाई-भाई में जंग छिड़ी है, पिता-पुत्र गाल फुलाये हैं, सास-बहू एक दूसरे को देखती हैं तो छाती फटने लगती है। पति-पत्नी कचहरी का चक्कर लगाते हैं तो सम्पत्ति किस काम की। क्या यह ज़िन्दगी लोहे के सिक्के, कागज के नोट, ईंटों के मकान और टीन की गाड़ियों के लिए है? नहीं। ठीक है आप रुपये कमाते हैं, सुन्दर मकान बनाते हैं, अच्छी गाड़ी खरीदते हैं तो खरीदिये। इनकी जरूरत है। लेकिन यह न भूलें कि ज़िन्दगी तो प्रेम रूपी स्वर्ग और अनासक्ति रूपी मोक्ष कमाने के लिए है। चीजों का उचित ढंग से खर्च होते रहना ही उसका सही उपयोग है। कुएं से पानी निकलते रहने पर उसमें स्रोतों से ताजा, स्वच्छ पानी आ जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि दान का महिमापूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं—श्रद्धा पूर्वक दान करो। यदि कहें कि मुझे श्रद्धा नहीं है तो अश्रद्धा से दो। देते-देते श्रद्धा हो जायेगी। अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार दान दो, कम है तो कम दो ज्यादा है तो ज्यादा दो। लज्जा से दो, धन होते हुए भी आप चुपचाप बैठे हैं। लज्जा करो। भय से दो, दान-

धर्म न करने से लोक-परलोक खराब होगा। इकरार कर लिए हो तो दो, किसी को कुछ देने के लिए कह दिये हो, तो समय आने पर मुकर मत जाओ। मूल मंत्र इस प्रकार है—श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। हिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

हम बीड़ी, सिगरेट, गुटका, गुड़ाखू, तम्बाकू, शराब, जुआ आदि दुर्व्यसन में डूबे हैं जिसके परिणाम में हमारे परिजन पीड़ित हैं। इतने पर भी हम कहें कि हम उनसे प्रेम करते हैं तो यह प्रेम नहीं, छल है। प्रेम के नाम पर हम परिजनों के तन, मन, धन एवं उनके पवित्र स्वभाव का शोषण कर रहे हैं। परिवार एवं समाज से प्रेम का मतलब है आत्मसुधार! प्राणियों की हिंसा-हत्या करें, छल-छद्म करें और कहें हम ईश्वर से प्रेम करते हैं, यह ईश्वर-प्रेम के नाम पर प्राणियों के साथ अत्याचार-छल करना है। ईश्वर से प्रेम करने का मतलब है मनुष्यों एवं प्राणियों से प्रेम करना। सद्गुरु श्री अभिलाष साहेब जी कहते हैं—

*दिल दया रहम को तजकर, सन्ध्या नमाज खाली है।
प्राणी से बैर बढ़ाकर, ईश्वर पूजा जाली है॥
सब पूजा धर्म-कर्म है, निर्मल मन वाणी काया।
मानव में प्रेम प्रसारण, अरु जीव मात्र पर दया॥*

सच्चा प्रेम वह है जिसमें चीजें आड़े न आये, पद आड़े न आये। हम चीज, पद, प्रतिष्ठा के आधार पर अपने दिल का संकोच-विकास करते हैं। यदि बड़े भाई आदर देंगे तो हम उनसे मीठा बोलेंगे, यदि पिता जी हमसे प्यार करेंगे तो हम उनका चरण स्पर्श करेंगे, यदि सास हमें बेटी मानेगी तो हम उन्हें मां मानेंगी, यदि गुरु जी हमें विशेष सुविधा देंगे तो हम उनके चरणों के दास बनकर रहेंगे। यह तो व्यापार है। प्रेम को हम लेने-देने की वस्तु बना दिये हैं। प्रेम व्यापार नहीं है यह तो सच्चे हृदय का प्रसाद है, जिसे निष्काम होकर अपनों में और गैरों में लुटाते चलें। हमारे में जितनी त्याग की शक्ति बढ़ती जायेगी बाहर उतना ही प्रेम का भाव बढ़ता जायेगा।

विनम्रता—विनम्रता का मतलब है कोमल स्वभाव। विनम्रता वह उद्यान है जिसमें अनेक प्रकार के फूल-फल लगते हैं। विनम्र व्यक्ति तकलीफ तो किसी

को देता नहीं बल्कि जाने-अनजाने में वह सबकी सेवा कर लेता है। वह अपने घर के लोगों में हो या बाहर के लोगों में किसी को अपनी इच्छाओं-कामनाओं से परेशान नहीं करता। वह अपनी बात बलात किसी पर नहीं लादता। विनम्र व्यक्ति स्वावलम्बी होता है, वह अपना कमरा, कपड़ा, बाथरूम आदि स्वयं साफ कर लेता है। चलते समय राह के पत्थर-कांटे आदि हटा देता है। यहां तक कि ट्रेन अथवा बस में अपनी तरफ से गंदगी तो नहीं करता, यथासंभव सफाई भी कर देता है।

गुजरात, अहमदाबाद की घटना है—वहां एक सद्बिचार समिति थी। रक्षाबन्धन के दिन उस समिति की बहिनें राखी और मिठाइयां लेकर जेल में पहुंचीं। जेल अधिकारी से अनुमति लेकर वे कैदी भाइयों के हाथों में राखी बांधती हैं और उन्हें मिठाइयां खिलाती हैं। कैदियों की आंखों में आंसू आ जाते हैं। इन बहिनों में कितना प्रेम है, जो जेल की कोठरी में भी ये प्रेम का उपहार लेकर आ गयीं। वे बोले—बहिनो! आपके इस प्रेम के बदले में देने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं है।

उन बहिनों ने कहा—“है क्यों नहीं। आप हमें वचन दीजिए कि जेल से छूटने के बाद कभी गलत काम नहीं करेंगे। ईमानदारी और इन्सानियत की जिन्दगी जियेंगे। आपका यह वचन हमारे लिए हजारों रुपयों से बढ़कर है।”

कैदियों का दिल बदला। उन्होंने संकल्प किया कि अब हम सदाचार की राह पर चलेंगे।

यहां उपलब्ध समस्त ऐश्वर्य, धन, विद्या, रूप, जवानी, शासन, स्वामित्व, सौन्दर्य, गाड़ी, मकान, परिवार, पद, प्रतिष्ठा आदि सब क्षणिक एवं सारहीन हैं। इन सबका गर्व मिटाकर सच्चे प्रेम के उपासक बनें। सहनशीलता, त्याग और विनम्रता प्रेम रूपी भवन के आधारस्तम्भ हैं। इन्हीं के बल पर ही हमें व्यावहारिक, सामाजिक और आध्यात्मिक संतोष मिल सकता है। और आत्मकल्याण, आत्मशांति की साधना हो सकती है।

परमार्थ पथ

सद्गुरु ज्ञान ठिकाना है

मेरा ऐश्वर्य आत्मतृप्ति, आत्मसंतोष और अविचल आत्मविश्राम है। शरीर ही सारे लौकिक ऐश्वर्य का आधार है और वह स्वयं मल-मूत्र का पात्र, हड्डी की झोपड़ी, मांस का पिंड, रक्त और पसीना से गीला, रोगों का घर, क्षण-क्षण बदलने वाला और क्षण ही में लुप्त हो जाने वाला है। फिर लौकिक ऐश्वर्य का क्या मूल्य है? उससे शांति भी नहीं मिलती; अपितु वह प्रमाद बढ़ाने वाला ही है। लौकिक थोड़ी चीजों की जरूरत है, जैसे खाने, कपड़े आदि। वे भी थोड़े, सादे और सरल। हमारा ऐश्वर्य तो स्वराट होना— अपना राजा होना, सम्राट होना—सम्यक राजा होना है; और वह है स्वरूपलीनता। प्रपंचशून्य होकर अपने आप में तृप्त!

सारी वार्ताएं क्षणिक हैं। जन्म के बाद जब से चेत में आये हो, तब से बहुत वार्ताएं किये हो, उनमें क्या धरा है? आज तक तुम्हारे पास क्या और कौन है? कम-से-कम बोलना अच्छा है। जिन्हें तुम समझाना चाहते हो वे तुमसे अधिक बुद्धिमान हैं। जिन्हें तुम सुधारना चाहते हो, उनका सदाचार तुमसे ऊंचा है। हर मनुष्य अपनी बुद्धि तथा सदाचार को दूसरों से श्रेष्ठ मानता है। तुम अपने को देखो, अपने को सुधारो! भ्रम में मत जीयो। जो तुमसे कुछ राय चाहे तो उसे जो उचित है बता दो। अधिक से अधिक मौन होकर आत्म-सुधार करो।

बाहर से तुम्हारा कोई कुछ हानि नहीं कर सकता है। तुम दूसरों से व्यर्थ ही भयभीत रहते हो। दूसरों की प्रतिक्रिया में मन और समय को व्यर्थ में बरबाद न करो। तुम्हारे में दूसरे का अस्तित्व ही नहीं है। तुम केवल हो, अद्वैत हो, असंग हो, अकेला हो। तुम्हारे में संसार का अस्तित्व है ही नहीं है। तुम निर्मल, निर्दोष, परम शांत स्वरूप हो। तुम विजाति को, द्वैत को, माया को, प्रकृति और विकृति को अपने मन में स्थान देकर अपना अंतःकरण मत दूषित करो। तुम सब समय मन

को निर्मल, शांत और आत्मलीन रखो।

जो मनुष्य अपने पेट और मन को हलका रखता है, वह सुखी रहता है। हर क्षण अहंता-ममता का त्याग करते रहना मन को हलका रखने का तरीका है और कड़ी भूख लगने पर सादा सात्विक, सुपाच्य, शुद्ध और संतुलित भोजन करना पेट को हलका रखने का तरीका है। इस संसार में आखिर में मेरा कुछ नहीं है, तो अहंता-ममता करके मन को फंसाना अज्ञान के सिवा क्या है? जीवन थोड़े दिन का है, किन्तु मेरा अस्तित्व नित्य है। मैं देहातीत चेतन हूँ। अतएव देहातीत भावना में रहकर समय बिताना चाहिए। सच्ची और स्थिर स्थिति आत्म-अस्तित्व है। स्वरूपस्थिति हमारा परम धाम है।

कुछ न सोचना निर्विकल्प समाधि है। यह अंतिम समाधि है। यह महासुख है, मुक्ति है। कुछ न सोचने का विचार मन में लाना भी सुख है। मनुष्य विजाति जड़-दृश्य के विषय में ही सोचता है और वह सब क्षण-क्षण छूटता जाता है और शरीरांत के साथ सब छूट जाता है। इसलिए छूटने वाली वस्तुओं के लिए सोचना धोखा सिद्ध होता है और उसी धोखा में मनुष्य आत्मशांति एवं मुक्ति से वंचित रह जाता है। जीवन का बहुमूल्य समय जो आत्मशांति की साधना में लगाकर कल्याणदायी हो सकता है, उसे छूटने वाली व्यर्थ वस्तुओं के चिंतन में लगाकर कल्याण का अवसर खो देना घोर प्रमाद और आत्मघात है। आत्मशांति के अतिरिक्त हमें कुछ नहीं चाहिए यह दृढ़ निश्चय ही साधना में अविचल कर सकता है।

जो साधक सदैव शून्य को देखता है, वह संताप से मुक्त परम आनन्दमय रहता है। सारा दृश्य ओझल हो जाता है, इसलिए वह हमारे लिए शून्य हो जाता है। देखो, हमारे शैशव, बाल्य, जवानी, परिपक्वास्था शून्य हो गये। हम जहां जन्मे, बड़े, खेले, पढ़े वहां के परिवार, सगे-संबंधी सब शून्य हो गये। उन बीती अवस्थाओं के प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति तथा उनकी क्रियाएं तथा वार्ताएं आज व्यर्थ हैं। वर्तमान के भी व्यर्थ हो जायेंगे। अतएव बहुत कम बोलो। वासनाहीन, मौन

एवं निर्विकल्प रहना ही परमसुख है। शून्य को देखने वाला शून्य नहीं, यथार्थ है, वही स्वसत्ता है।

* * *
सतत सावधानी साधना है। मन के स्मरण कहां से कहां तक पहुंच सकते हैं, इस तथ्य को मन की परीक्षा करने वाला साधक ही समझ सकता है। शेष लोग तो मन की धारा में बहते हैं। संकल्पों का निरंतर त्याग सच्ची साधना है। देहाध्यास जीव का मुख्य बंधन है। मैं देह से भिन्न शुद्ध चेतन हूं। मेरे में संसार प्रपंच का लेश नहीं है। इस भाव का सतत स्मरण रखना चाहिए। अपने प्रति किसी प्रकार की आलोचना पाकर थोड़ा भी क्षुब्ध न हो, किन्तु उस पर विचार करे। यदि अपने व्यवहार में त्रुटि हो तो उसे सुधारने का प्रयत्न करे और यदि आलोचक का भ्रम हो तो निश्चित रहे। संभव हो तो उसे समझा दे, अन्यथा स्वयं शांत रहे। कोई दूसरे को नहीं समझा सकता जब तक वह न समझना चाहे।

* * *
रजोगुण-प्रधान, तमोगुण-प्रधान तथा सतोगुण-प्रधान मनुष्य तुम्हारे इर्द-गिर्द रहेंगे। उनके मन में जो आयेगा वह कहेंगे, वे जैसा समझेंगे वैसा करेंगे। तुम न उनका मन बदल सकते हो, न उनकी जबान पकड़े रह सकते हो और न उनकी प्रवृत्तियों को थाम सकते हो। तुम अपने मन, वाणी और इन्द्रियों को सम्हालकर रखो। इसी में तुम्हारा कल्याण है। यह प्राणी, पदार्थों तथा परिस्थितियों का झमेला देखते-देखते लुप्त होता रहता है और एक दिन सदैव के लिए लुप्त हो जायेगा। अतएव तुम अपना मन इनमें न रखो, अपितु अविनाशी आत्मा में रखो जो कालातीत, दृश्यातीत और शाश्वत है।

* * *
इस संसार में जब कोई मेरा नहीं है और कुछ मेरा नहीं है तब किस बात को लेकर संताप है? तुम जब किसी में अहंता-ममता करते हो, तब उसके प्रिय व्यवहार से मोह पैदा होता है और अप्रिय व्यवहार से क्षोभ पैदा होता है। अपरिचित आदमी से अपमान पाकर मन में अमर्ष नहीं होता। जो विवेकवान अपने निकट के लोगों को भी अपरिचित और पराये की तरह मानता है, वह उनके अप्रिय व्यवहार से क्षोभ नहीं करता। उनके सुधार का प्रयत्न कर सकता है, परन्तु क्षोभ नहीं। सदैव ज्वलंत विवेक में जीने

वाले साधक के मन से दुख समाप्त हो जाता है।

* * *
जगत तीनों काल आत्मा में नहीं है, किन्तु जगत में जगत तीनों काल है। जगत में जगत तीनों काल रहे, इससे मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। मेरे में जगत कभी नहीं है। आज-कल में देह छूट जाने पर जगत मुझसे सर्वथा अलग हो जायेगा, इस भाव को चित्त में रखकर साधक को इस तथ्य में जीना चाहिए कि मेरे में जगत तीनों काल में नहीं है। जो जगत मेरे में है ही नहीं, उसे मन में तूल देकर बीती बातों के स्मरणों में पचना और भविष्य के विषय में कल्पना करना भयंकर धोखा है। भूत-भविष्य को छोड़कर वर्तमान स्वस्वरूप में स्थित रहना, बस इतनी ही साधना है। कुछ न सोचना साधना है।

* * *
देह-भाव में रहना भय में जीना है। स्वरूपभाव-आत्मभाव में रहना निर्भयता में जीना है। तुम्हारे साथ देह रहने वाली नहीं है, तो और क्या रहेगा? अतएव सदैव आत्मभाव में रहकर कैवल्य में स्थित रहो। सांसारिक कूड़ा-कचड़ा में क्यों जीते हो। स्वच्छ, शांत, निराधार आत्मभाव में क्यों नहीं रहते। जीवन का समय तो भागा जा रहा है। उसे कूड़ा-कचड़ा मन में भर कर बिताओ अथवा आत्मभाव में रहकर मुक्ति के आनन्द में बिताओ। पीछे वाले सब लोग चतुर हैं। जो जिसमें अपना हित समझेंगे वे उस तरफ चल देंगे। तुम किसी के उद्धारक नहीं हो। तुम केवल अपना कल्याण कर लो, तो सब कुछ हो गया।

* * *
तुम सब समय शांत रहो, शेष सब काम अच्छा रहेगा। एक ही काम है—सब समय शांत रहना। शरीर का व्यवहार स्वतः होता रहता है। तुम्हारी शांति में दूसरा बाधक नहीं हो सकता। दूसरा व्यक्ति तुम्हारे साथ दुर्व्यवहार कर सकता है, परन्तु उसका फल उसे ही मिलेगा। तुम सब समय अहंकार-ममकार से रहित रहो, तो तुम्हारी शांति में विघ्न हो ही नहीं सकता। जब तुम स्वयं अहंकार में पड़ जाओगे तब अशांत हो जाओगे। इस मृत संसार में क्या रखा है। सब समय सब कुछ मर रहा है। वस्तुतः तुम्हारे अस्तित्व में केवल तुम हो। तुम्हारे में अन्य कुछ है ही नहीं। तुम्हें किसी से लेना-देना नहीं है। स्वयं तृणरहित अग्नि की तरह शांत रहो।

लाओत्ज़े क्या कहते हैं?

18. ताओ के त्याग से हानि

1. *If the great DAO perishes
there will be morality and duty.
When cleverness and knowledge arise
great lies will flourish.*
2. *When relatives fall out with one another
there will be filial duty and love.
When states are in confusion
there will be faithful servants.*

अनुवाद

1. जब महान ताओ का पतन होता है,
तब नैतिकता और कर्तव्य उपस्थित होते हैं।
जब होशियारी और ज्ञान का उदय होता है,
तब पाखंड की वृद्धि होती है।
2. जब परिवार में टुटन बढ़ती है,
तब संतान कर्तव्यनिष्ठ होती है।
जब राज्य में अव्यवस्था होती है,
तब योग्य सेवक सामने आते हैं।

भावार्थ—1. जब विश्व-सत्ता के नियमों की गिरावट होती है, तब नैतिकता और कर्तव्य उपस्थित होते हैं। जब चतुरता और ज्ञान उत्पन्न होते हैं, तब पाखंड फैलता है।

2. जब परिवार में बिखराव होता है, तब अगली पीढ़ी के लोग कर्तव्यनिष्ठ होते हैं। जब राज्य में व्यवस्था बिगड़ती है, तब विश्वसनीय सेवक सामने आते हैं।

भाष्य—जब महान ताओ का पतन होता है, तब नैतिकता और कर्तव्य उपस्थित होते हैं। ताओ महान है। वह है विश्व-सत्ता का नियम। यहां संदर्भ है

मानव की सहज सही दशा का। अपने पर संयम और दूसरों के साथ शील का बरताव, जीवन में महान ताओ की उपस्थिति है। वस्तुतः अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण ही महान ताओ की उपस्थिति है। यह हो जाने से दूसरे के साथ सही बरताव उसका फल है। यह कारण-कार्य-व्यवस्था है। संयत व्यक्ति ही दूसरों के साथ अच्छा बरताव कर सकता है।

सद्गुणों की जीवन में सही स्थिति का अर्थ होता है कि उसका पता न चले। वे जीवन में स्वाभाविक हो जायें और इतने रचपच जायें कि उनका अलग अस्तित्व ही न लगे। स्वाभाविक स्वस्थ मनुष्य को यह आभास ही नहीं होता है कि मैं स्वस्थ हूँ। स्वास्थ्य तो उसके जीवन में इतना ओतप्रोत है कि वह उससे अलग होकर दिखता ही नहीं है। स्वाभाविक वैराग्यवान से कहिए कि आप वैराग्यवान हैं, तो उसे अटपटा लगेगा। राग दुःखप्रद है, इसलिए इसे वह छोड़कर रहता है और उसकी यह दशा इतनी स्वाभाविक हो गयी है कि वैराग्य उसके जीवन में रचपच गया है। इसलिए वह अपने को वैराग्यवान होने का ख्याल ही नहीं रखता है। वैराग्य तो उसका जीवन है।

जीवन में ताओ की पूर्ण उपस्थिति है जीवन में पूर्ण संयम जो सहज और स्वाभाविक हो। संत लाओत्ज़े कहते हैं कि इस महान ताओ का जब पतन हो जाता है, जीवन की सहज सद्गुण-स्थिति जब नहीं रह जाती है, तब जीवन में अनेक दुर्गुण उत्पन्न होते हैं; जैसे भोग-कामना, अहंकार, आपाधापी, दूसरों के साथ निर्दय व्यवहार। ऐसी स्थिति में जीवन में दुःख बढ़ जाता है। तब मनुष्य में मोरलिटी और ड्यूटी, नैतिकता और कर्तव्य, सदाचार और सेवाभाव उत्पन्न होते हैं।

नीति से चलो और अपना कर्तव्य-पालन करो, यह तब कहा जाता है जब लोग अनीति से चलते हैं और अपने कर्तव्य-कर्मों से विमुख होते हैं। इसी भाव को लेकर ग्रंथकार कहते हैं कि जब महान ताओ का पतन

होता है, तब नैतिकता और कर्तव्य उपस्थित होते हैं। जब जीवन में स्वाभाविक सद्गुण रहते हैं, तब नैतिकता और कर्तव्यनिष्ठा का उपदेश करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती।

मैं जब पहली बार सन 1964 ई. में अपने भक्त प्रेमप्रकाश के घर कोलकाता गया, तब वे मेरे प्रवचन की रिकार्डिंग करने के लिए टेपरिकार्डर खरीद लाये। मेरी कल्याण-पथ नाम की पुस्तक तब छपी नहीं थी। उसकी पांडुलिपि साथ में थी। उसे समय-समय से पूरा पढ़कर टेप किया गया। उस समय मेरा एक लेख गृहस्थ नारियों को सीख देने के लिए पातिव्रत पर था। मैंने कहा कि इसका भी टेप कर लें। प्रेमप्रकाश जी ने कहा कि मेरी पत्नी स्वाभाविक पतिव्रता है, अतएव इसकी आवश्यकता ही नहीं है। अतएव उस लेख का टेप उन्होंने नहीं किया।

एक पुरानी घटना है। चीन के एक सज्जन ने जापान के सज्जन को एक पुस्तक दी जिसमें पारिवारिक धर्मपरायणता के चौबीस उदाहरण थे। जापान के सज्जन ने कहा कि यह तो हमारे देश के परिवार में स्वाभाविक है, जापान में इसकी कोई चर्चा ही नहीं करता है। यह तो हमारे देश के परिवारों में स्वाभाविक रचापचा है।

लोगों में स्वाभाविक सद्गुण विद्यमान हों और उनके जीवन में रचेपचे हों, यही उनके जीवन में महान ताओ की विद्यमानता है। हजारों वर्ष पुरानी घटना है। केकय देश पंजाब की व्यास नदी का क्षेत्र। वहां अश्वपति नामक राजा राज्य करते थे। पंचाल देश के महर्षि उद्दालक जो श्वेतकेतु के पिता और गुरु थे ही, आगे चलकर महाज्ञानी याज्ञवल्क्य के भी गुरु हुए थे। वे प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इंद्रदुम्न, जन तथा बुडिल इन पांच जिज्ञासुओं को साथ लेकर राजा अश्वपति के पास ज्ञान प्राप्त करने के लिए गये थे। राजा ने उनकी जिज्ञासाओं का तो समाधान किया ही, उन्होंने अपनी प्रजा की उच्च स्थिति बतायी, “मेरे देश में कोई चोर नहीं है, न कोई कृपण है, न कोई मदिरा पीनेवाला है, न कोई हवन न करने वाला है, न कोई अविद्वान है, न कोई

व्यभिचारी है, फिर व्यभिचारिणी कहां से हो सकती है?” यह महान ताओ की विद्यमानता है।

अतएव जब महान ताओ का पतन होता है, स्वाभाविक सद्गुणों का लोप होता है, तब नैतिकता और कर्तव्यनिष्ठा के उपदेश शुरू होते हैं। यदि जीवन स्वाभाविक सद्गुणों से पूर्ण रहे तो इसके उपदेश की आवश्यकता ही नहीं होगी।

जब होशियारी और ज्ञान का उदय होता है, तब पाखंड की वृद्धि होती है। जब क्लेवरनेस और नॉलेज अर्थात् चालाकी और ज्ञान बढ़ते हैं तब ‘ग्रेट लाइज’ अर्थात् भयंकर झुठाई बढ़ती है, जिसका आधार बनता है पाखंड।

लोग कहते हैं कि अशिक्षित अंधविश्वासी होते हैं। इसके साथ यह भी कहना चाहिए कि शिक्षित धूर्त होते हैं। वस्तुतः न सब अशिक्षित मूर्ख होते हैं और न सब शिक्षित धूर्त होते हैं। शिक्षित-अशिक्षित दोनों में घोर अंधविश्वासी और मूर्ख होते हैं और दोनों में विवेकी तथा सत्य के पक्षधर होते हैं।

प्रजा के भौतिक और आध्यात्मिक शोषण करने वाले अधिकतम शिक्षित लोग हैं। आर्थिक शोषण भौतिक शोषण है और अंधविश्वास में डालना आध्यात्मिक शोषण है। जाति-पांति के नाम पर ऊंच-नीच की व्याख्या, भूत-प्रेत, चमत्कार, ऋद्धि-सिद्धि देने का झांसा, यह सब प्रजा के आध्यात्मिक शोषण के शोषण-तंत्र हैं।

अशिक्षित जनता में सांप्रदायिकता नहीं के समान होती है। सांप्रदायिकता की आग लगाने वाले चालाक शिक्षित लोग होते हैं और इस लपेट में भी अशिक्षित भोली जनता ही अधिक मारी जाती है। चालाक शिक्षित हिंसा की आग लगाकर अलग हो जाते हैं। संत लाओत्जे कहते हैं कि जब ज्ञान, शिक्षा तथा चतुरता बढ़ती है तब झूठ, पाखंड तथा प्रवचन की वृद्धि होती है।

1. न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो।

नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरिणी स्वैरिणी कुतः॥

(छांदोग्य उपनिषद् 5/11/5)

जब परिवार में टुटन बढ़ती है, तब संतान कर्तव्यनिष्ठा होती है। परिवार के लोगों में जब अपने व्यक्तिगत घृणित स्वार्थ, अहंकार, अधिकार-लालसा, कामनाएं आदि बढ़ती हैं, तब उनमें बिखराव होता है। अतएव पारिवारिक दुख बढ़ जाता है। तब इससे पीड़ित होकर लोगों में कर्तव्यनिष्ठा का उदय होता है। वे सोचते हैं कि अपना स्वार्थ घटायें, दूसरों की सेवा करें। स्वयं सह लेना और दूसरों को न सहाना, अपना कर्तव्य निभाना और दूसरों के अधिकार की रक्षा करना, अपनी बातें किसी पर बलात न लादना और दूसरों की उचित बातें मान लेना, दूसरों की सेवा करना और दूसरों से कुछ न चाहना; यह सब बातें आती हैं।

यदि परिवार के लोग ताओ के साथ हैं, स्वाभाविक निष्काम, निर्मान, सेवा-परायण, संयमी हैं तो परिवार में कर्तव्यनिष्ठा के उपदेश देने की आवश्यकता ही नहीं है।

जब राज्य में अव्यवस्था होती है, तब योग्य सेवक सामने आते हैं। सब जगह की अव्यवस्था की जड़ में अहंकार, कामना, अंधा स्वार्थ, भोग-लालसा

आदि हैं। जब राजा, मंत्री, अधिकारी, कर्मचारी घूसखोर, प्रजा के धन का दुरुपयोग करने वाले कर्तव्यहीन, क्रूर और उदंड होते हैं, तब राज्य में अव्यवस्था फैलती है। इस अव्यवस्था से जब प्रजा बहुत पीड़ित हो जाती है तब उसी में से ऐसे लोग निकलते हैं जो स्वयं त्याग, संयम और सादगी से रहते हैं और शासक तथा प्रजा के बीच में सामंजस्य स्थापित करते हैं। वे शासक और अधिकारी को कर्तव्य का बोध कराते हैं।

अंग्रेजों के शोषण और दमन से ही भारतीय जनता में हजारों देश-सेवक उदय हुए थे, जो अपने जीवन को मोमबत्ती की तरह गलाकर स्वयं देश के लिए प्रकाश-स्तंभ बने। यदि देश में सुव्यवस्था एवं स्वतंत्रता होती, तो इतने देश-सेवक पैदा ही नहीं होते।

संत लाओत्जे बहुत गहराई में सोचते हैं। वे कहते हैं कि राजा और प्रजा दोनों ताओ के अनुसार चलें, विश्व-सत्ता के नियमों के अनुसार चलें, जिससे कहीं अव्यवस्था हो ही नहीं। फिर इतने शासन और लेक्चरबाजी की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी।

जागरूकता ही जीवन है

लेखक—रमेश दास

सद्गुरु कबीर ने कितनी सूझ-बूझ के साथ यह पंक्ति कही है—“मरना भला विदेश का, जहां न अपना कोय” मृत्यु जीवन की सच्चाई है। इसे कोई चाहकर भी बदल नहीं सका है और न आगे संभावना है। सबके क्रिया-कलापों में, जीवन शैली में अंतर है लेकिन अंतकाल में सबको मृत्यु के आगोश में सदा के लिए समा जाना पड़ता है। इस बात की याद कितने लोगों को होती है? संसार में तो लोग मौत की याद करना तो दूर नाम लेना तक पसंद नहीं करते हैं। हम अपने को भले ही सत्य से ओझल रखें किन्तु इसे

झुठलाया नहीं जा सकता है।

पूरी दुनिया में जितने भी संत पुरुष हुए हैं सबने मौत की याद को परम प्रिय माना है।

दक्षिण भारत के संत रमण महर्षि के जीवन की घटना है। जब उनकी उम्र सत्रह वर्ष की रही तब उनको लगा कि अब मैं मर चुका हूं। इस भावना में वे इतने तद्गत हुए कि उनकी पूरी दुनिया ही बदल गई। उनको यह दुनिया दूसरे ढंग से दिखाई देने लगी और आगे चलकर वे परम विरक्त हुए। दूसरी घटना सद्गुरु श्री विशाल देव की है। जब उनके गांव में पारखी संत श्री

रघुवर साहेब जी का आगमन हुआ। शाम के समय उनका प्रवचन हो रहा था। श्री विशाल देव की उम्र उस समय 13-14 वर्ष की रही होगी। किसी के बहुत कहने पर वे सत्संग में बैठ गये। उन पर सत्संग का इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी दुनिया ही बदल गयी। वे अपना संस्मरण अपने शिष्यों को सुनाते हुए कहते थे कि उस समय मेरे लिए न चांद था, न सूर्य था, न धरती थी और न आकाश था। केवल मैं था। आगे चलकर वे परम विरक्त संत हुए।

तीसरी घटना शुकदेव मुनि की है। कहानी के अनुसार संसार के दुखों को देखकर वे बारह वर्ष तक मां के पेट में ही रह गये। बारह वर्ष बाद पैदा होते ही वे जंगल की ओर भाग खड़े हुए और परम विरक्त हो गये।

जन्मों-जन्मों के शुभ संस्कारी पुरुष बचपन में ही संसार के दुखों को समझ लिये थे और उनसे मुक्त होने का उपाय भी ढूँढ लिये और परम विरक्त हो गये।

चौथी घटना महात्मा बुद्ध की है। जब उनकी उम्र सत्ताइस वर्ष की रही तब नगर भ्रमण के दौरान उन्होंने कई घटनायें देखी। जिनके मूल में मौत की याद और संसार के दुख ही थे। उनको लगा कि अब मैं मर चुका हूँ। उसने अपने सारथी से कहा कि नगर भ्रमण हो गया अब रथ लौटा ले चलो। रथ वापस लौटा लाया गया और कुछ दिनों पश्चात वे राज्य तथा भरा-पूरा परिवार त्यागकर चले गये और परम विरक्त हुए।

सद्गुरु कबीर ने मौत को बड़ी गहराई से देखा है और अपनी वाणियों में जगह-जगह उसकी याद की है। वे कहते हैं—

जेहि मरने से जग डरे, मेरे मन आनंद।
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरण परमानंद॥
कबीर रसरी पाँव में, कहँ सोवै सुख चैन।
साँस नगारा कूँच का, बाजत है दिन रैन॥

मौत की बात को सुनकर वही आनंदित हो सकता है जो मौत से पार पहुंच गया हो। जिनका मन भोगों से विरक्त होकर आत्मा में, अपने आप में

अनुरक्त हो गया हो। सद्गुरु श्री अभिलाष साहेब ने भी कहा है—

रे मौत प्यारी मौत मेरे सामने आया करे ॥

(वैराग्य संजीवनी)

महायोगी गोरखनाथ जी ने मौत की याद करते हुए अपनी वाणियों में कहा है—“मरो मरो हो गोरख, मरण है मीठा।” एक बार मस्तराम श्मशान में लेटे हुए थे। पास ही में एक मुरदा पड़ा हुआ था, मस्तराम ने मुरदे से पूछा—मुरदे महाराज! कुछ बताओगे? मुरदा ने कहा—मर जाओ फिर सुख को पा जाओगे। मूल पंक्ति इस प्रकार है—

मस्त राम मुर्दे से पूछा मुर्दा कुछ बतलाओगे।

मुर्दा में से मुर्दा बोला मर जाओ सुख पाओगे ॥

यहां मरने का तात्पर्य है अपनी अहंता-ममता को मारना। जो आदमी अपने मनोविकारों को मार लेता है फिर उसे मरने की जरूरत क्या है? शरीर की मौत जब होगी तब होगी वह तो इसी जन्म में ‘सब सुख’ को प्राप्त हो जाता है।

हम समझते हैं कि जीवन में उन्नति कर रहे हैं, खूब धन कमा रहे हैं, लोगों में अपना परिचय बढ़ा रहे हैं। लेकिन यह हमारा भ्रम मात्र है। जितनी हमारी उम्र बीतती जाती है उतना ही हम मौत के करीब होते जाते हैं।

हमें मरने से भय क्यों होता है? इसके अनेक कारण हो सकते हैं, लेकिन अनेक कारणों में एक कारण मुख्य है अपने आप की समझ न होना, अपने वास्तविक स्वरूप से बेभान होना। जानकार होना अलग बात है और बोधवान होना बिल्कुल अलग बात है। दुनिया में आपको हर विषय, हर कला के जानकार मिल जायेंगे। वे उन कलाओं के बारे में आपको अच्छी तरह से अवगत करा देंगे। किन्तु मौत का नाम सुनकर उनका भी मन भयभीत हो जाता है।

लेकिन जिनको अपने आप की समझ है, जो अपने आप में मस्त है, जिन्होंने शरीर-संसार से अपने को

पृथक कर लिया है वे मौत का नाम सुनकर प्रसन्नता से भर जाते हैं। उसके स्वागत के लिए वे सदैव तैयार रहते हैं। ऐसे व्यक्ति के शरीर को मौत उसी प्रकार उतारती है जैसे आदरपूर्वक राजा साहेब के कपड़े को नौकर उतारता है। किसी ने कितना बढ़िया कहा है—“भोगी मृत्यु से डरता है और योगी से मृत्यु डरती है।”

जहां पर पैदा हुए वहीं पर मर गये तो यह जीवन की विशेषता नहीं है। वासना से जन्मे, वासना में जीये और वासना में पड़े-पड़े जीवन को समाप्त कर दिये तो यह जीवन की विशेषता नहीं है। मानव जीवन की विशेषता तो इसमें है कि वासना से ऊपर उठकर जीवन व्यतीत हो। वासना से जन्म लेना तो मजबूरी है परन्तु वासना में जीना और वासना में मरना मजबूरी नहीं है।

कमल का कीचड़ में पैदा होना उसकी मजबूरी है, इमली के बीज को इमली के फल में पैदा होना उसकी मजबूरी है और सूखे नारियल की गरी को नारियल के फल में रहना उसकी मजबूरी है। लेकिन कमल कीचड़-पानी से ऊपर उठकर स्वतंत्र आकाश को निहारता है, पके हुए इमली के बीज फल में रहते हुए भी अपने को पृथक रखता है और सूखे नारियल की गरी फल में रहते हुए भी अपने को पृथक रखती है। ऐसे ही हम संसार में रहें परन्तु सांसारिकता से ऊपर उठकर रहें, अपने मन को संसार से निर्लेप अनासक्त बनाकर रखें।¹

इस संसार से भागकर जायेंगे कहां? जहां जायेंगे वहां लोग मिलेंगे, प्राणी-पदार्थ मिलेंगे और व्यवहार होगा। व्यवहार से बच नहीं सकते हैं। ऐसी स्थिति में करना यह है कि लोगों के बीच रहते हुए, उनसे व्यवहार लेते हुए अपने मन को सबसे पृथक रखना। क्योंकि जो कुछ भी मिला है सब छूटने के लिए है। किसी को चाह कर भी हम अपना नहीं बना सकते हैं।

मैं कौन हूँ? जगत क्या है? और जगत से मेरा

1. कमल पत्र हैं संतजन, रहै जगत के मांहि ।
बालक केरी धाय जो, आपन जानत नाहिं ॥ कबीर साखी ॥

संबंध क्या है? ये तीन प्रश्न हमारे जीवन के लिए उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितना कि भोजन। जैसे बिना भोजन किये जीवन नहीं चल सकता ठीक वैसे ही अपने आपके ज्ञान के बिना जीवन में पूर्ण शांति नहीं आ सकती। संत रमण महर्षि से जब कोई व्यक्ति पूछता कि महाराज! नौकरी कैसे मिलेगी? पत्नी वश में कैसे हो? मन में शांति कैसे आयेगी? तो वे सारे प्रश्नों का एक ही उत्तर देते कि अपने को पहचानो, अपने को जानो कि “मैं कौन हूँ?”

मैं कौन हूँ? इतना महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि इसी में ही सारे प्रश्नों का उत्तर समाया हुआ है। इसका उत्तर पाने में आदमी को कई जन्म लग जाये तो कोई आश्चर्य नहीं! अपने आप को जानना मात्र पर्याप्त नहीं है किन्तु तदनुसार जीवन का आचरण भी जरूरी है। शरीर में वह कौन-सा तत्त्व है जिसके न रहने पर माता माता नहीं रह जाती, पिता पिता नहीं रह जाता और पुत्र पुत्र नहीं रह जाता। क्या इस तत्त्व को जानने के लिए हमारे मन में इच्छा होती है। किसी ने कितना अच्छा कहा है—“सबको जाना किन्तु अपने आप को न जाना तो क्या जाना?”

कठोपनिषद् में चर्चा आती है। नचिकेता अपने पिता वाजश्रवस के आज्ञानुसार जब यमराज के पास जाते हैं तब यमराज अनुपस्थित थे। नचिकेता तीन रात बिना भोजन किये यमराज की प्रतीक्षा किये। यमराज तीन दिनों के बाद आये। यमराज ने कहा कि बेटा! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, तुम तीन वर मांग लो। नचिकेता ने कहा—यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं तो मेरे तीन प्रश्न हैं आप उनके उत्तर दें। उसने यमराज के सामने तीन प्रश्न रखा। तीनों प्रश्नों में से तीसरा प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। वह था आत्मा के विषय में।

नचिकेता का तीसरा प्रश्न था कि मनुष्य के मन में यह संदेह रहता है कि प्राणी के मर जाने पर उसका क्या होता है? कोई कहता है कि मनुष्य के मरने के बाद आत्मा बची रहती है, वह कभी नहीं मरती। कोई कहता है कि कुछ नहीं बचता।

नचिकेता की जिज्ञासा तथा दृढ़ता देखकर यमराज ने उसे आत्मज्ञान का उपदेश दिया कि आत्मा शरीर से पृथक अजर-अमर, शुद्ध, बुद्ध निर्मल है और तीनों काल में उसका अस्तित्व रहता है।

इसी आत्मज्ञान का उपदेश महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को देते हैं और कहते हैं “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो” अर्थात् आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने और ध्यान करने योग्य है।

मैं कौन हूँ? यह अध्यात्म जगत का पहला प्रश्न है। मैं हूँ तब दुनिया है। मैं नहीं हूँ तो मेरे लिए दुनिया किस काम की। “मैं” सबके मूल में है और इसी से हम अनभिन्न रहते हैं। आदमी अनेक कला-कौशल के बारे में जानता है परन्तु जिसके माध्यम से वह जानता है उस तत्त्व को नहीं जान पाता है। मैं अंश-अंशी, व्याप्य-व्यापक भाव रहित शुद्ध चेतन हूँ। न मैं किसी से पैदा हुआ या बना हूँ और न मुझसे कुछ पैदा हुआ या बना है। मैं जड़ तत्त्वों से सर्वथा पृथक कारण-कार्य भाव रहित हूँ। न मुझे कुछ पाना है और न किसी में मिलना है। मैं अपने आप में पूर्ण तृप्त हूँ। यही सच्चा आत्मज्ञान है। निरंतर अपने आप का बोध बने रहना और पूर्ण निष्काम होकर जीना—यही मनुष्य जीवन का परम फल है।

दूसरा प्रश्न है कि जगत क्या है? मैं को समझ लेने के बाद जगत को समझना आसान हो जाता है। ‘जगत’ शब्द का विच्छेद करते हुए सन्तों ने कहा है कि ‘ज’ अर्थात् जन्म लेना, उत्पत्ति, पैदा होना और ‘गत’ अर्थात् समाप्त होना, मिट जाना। अर्थात् जहां जन्म लेना और मरना, उत्पत्ति और प्रलय होना दोनों साथ-साथ चले उसी का नाम जगत है। जगत का समानार्थी शब्द ‘संसार’ है। “संसरति इति संसारः” अर्थात् जो निरंतर संसरण करे, गतिशील हो उसी का नाम संसार है। इसे जन भाषा में ‘मृत्युलोक’ भी कहते हैं।

इस प्रकार संसार आत्मा से बिल्कुल भिन्न है।

जड़ तत्त्वों के मूल में परमाणु हैं। परमाणुओं में

स्वाभाविक नित्य क्रिया है, जिसके कारण तत्त्वों में परिवर्तन होते देखा जाता है। अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण परमाणुओं को हम नंगी आंखों से देख नहीं सकते हैं, परन्तु उनके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता है। वैज्ञानिक लोग मानते हैं कि एक बूंद पानी में छह शंख परमाणु होते हैं।

तीसरा प्रश्न है जगत से मेरा संबंध क्या है? उपरोक्त विवेचन से इतनी बात समझ में आ गई होगी कि मैं अलग हूँ और संसार की चीजें मुझसे बिल्कुल भिन्न हैं। न मैं जड़ हूँ और न ही चेतना मुझसे भिन्न है। अर्थात् मैं जड़ नहीं हूँ किन्तु चेतन हूँ। अब प्रश्न है कि “जगत से मेरा संबंध क्या है?” मेरा और जगत का संबंध मान्यता मात्र है। हम संसार की चीजों को अपना मान लेते हैं फिर उनके मिलन और वियोग से सुखी और दुखी होते रहते हैं। हम सांसारिक चीजों को अनादिकाल से मानते हुए आ रहे हैं कि यह मेरा है, वह मेरा है। सद्गुरु कबीर कितना बढिया चुटकी लेते हैं—

थोरी सम्पत्ति गौ बौराई, धर्मराय की खबरि न पाई ॥

(बीजक, रमैनी 21)

अर्थात् थोड़ी संपत्ति पाकर आदमी अहंकार में पागल बन जाता है और सांसारिक अहंता-ममता में इतना बेभान हो जाता है कि वह भूल ही जाता है कि आजकल में मौत आने वाली है।

विचार करके देखा जाये तो संसार के एक कण पर भी हमारा अधिकार नहीं है। संसार एक धर्मशाला है और हम एक मुसाफिर हैं। जैसे धर्मशाला की चीजों का हम उपयोग करते हैं, रात्रि निवास करते हैं फिर वहां से चल देते हैं, वहां की चीजों को अपना नहीं मानते हैं। वैसे हमारे लिए यह संसार है। हमारी यात्रा अनादिकाल से चल रही है। माता-पिता रास्ते हैं, और हम एक मुसाफिर हैं। संसार रूपी धर्मशाला की चीजें केवल निर्वाह के लिए हैं, परन्तु हम इनको अपना मानने लगते हैं। दुख यहीं से शुरू होता है। अतः अपना किसी को न मानें। जब तक प्रारब्ध है तब तक इनसे निर्वाह लेते रहें और मन से अनासक्त रहें।

दुख की बात यह है कि शरीर बूढ़ा हो जाता है किन्तु मन बूढ़ा नहीं होता है। सत्तर वर्ष का बूढ़ा आदमी भी अपने को बूढ़ा नहीं समझता है और भोगों की तरफ प्रवृत्त होता है। दोनों पैर कब्र में पहुंच चुके हैं, किन्तु अभी भी संसार से मन नहीं थका है।

इसी प्रसंग में राजा ययाति की कथा याद आती है। राजा होने से उनके पास अनेक सुंदरी रानियां थीं। उनके साथ काम-क्रिया में पड़े-पड़े बुढ़ापा आ गया और एक दिन मौत आ धमकी। मौत को देखकर वे घबरा गये। मौत ने कहा—अब तुम्हारी उम्र पूरी हो चुकी है। मैं तुमको यमलोक ले जाने के लिए आयी हूं। राजा ययाति ने कहा—अभी मेरा मन भोगों से थका नहीं है, अभी तो मैं सांसारिक भोग को ठीक से भोग भी नहीं पाया हूं। मुझे संसार का सुख और लेने दीजिए। मौत ने कहा—मैं आयी हूं तो खाली हाथ वापस नहीं जाऊंगी। तुम्हारे सौ पुत्र हैं, यदि इनमें से तुम्हारे बदले कोई मरने के लिए तैयार हो तो मैं तुम्हें छोड़ दूंगी। राजा ययाति ने अपने सभी बेटों से कहा लेकिन कोई तैयार नहीं हुआ। अंत में छोटे बेटे से कहा तो वह मरने के लिए तैयार हो गया और उसकी जवानी राजा ययाति को मिल गयी।

राजा ययाति ने फिर विषयों को छककर सौ वर्षों तक भोगा फिर भी मन तृप्त नहीं हुआ। कहानी आगे कहती है कि इस प्रकार सौ बार अपने सबसे छोटे बेटे से जवानी लेता रहा और नयी-नयी सुन्दरी रानियों से सहवास करता रहा लेकिन फिर भी उसका मन काम-भोग से तृप्त नहीं हुआ। अंत में वह भोगों से थक गया और बची हुई जवानी को अपने छोटे बेटे को लौटा दिया। इसीलिए राजा भर्तृहरि ने कितना सुंदर कहा है—
*भोगा न भुक्त्वा वयमेव भुक्त्वास्तपौ न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
 कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥*
 (भर्तृहरि वैराग्य शतक 12)

अर्थात् भोगों को मैंने नहीं भोगा किन्तु भोग ने ही मुझे भोग डाला, तप को मैंने नहीं तपा किन्तु मैं ही तप गया, काल को मैंने क्षीण नहीं किया किन्तु काल ने ही मुझे क्षीण कर दिया और तृष्णा को मैंने जीर्ण नहीं किया, किन्तु तृष्णा ने मुझे जीर्ण कर दिया।

कहा जाता है, राजा भर्तृहरि भी अत्यंत विषयासक्त थे। जागने का कारण कुछ भी रहा हो लेकिन वे जग गये और जंगल की राह पकड़ लिये। जागने वाले उम्र के मोहताज नहीं होते हैं। जागने वाले के मन में किसी भी अवस्था में वैराग्य का दीवानगीपन आ सकता है।

कहा जाता है राजा दशरथ अपने राजमहल में बैठे दर्पण देख रहे थे। दर्पण तो रोज देखते थे और कई बार देखते थे, लेकिन तब के देखने में और अब के देखने में जमीन और आसमान का अंतर था। पहले का दर्पण देखना राग का कारण होता था और आज का दर्पण देखना वैराग्य का कारण बन गया। गोस्वामी जी मानस में इसे सुंदर ढंग से उकेरते हुए कहते हैं—

*राय सुभाय मुकुरु करलीन्हा । बदनु बिलोकि मुकटु सम कीन्हा ॥
 श्रवन समीप भए सित केसा । मानहुं जरउपनु अस उपदेशा ॥
 नृप जुवराजु राम कहूं देहू । जीवन जनम लाहु किन लेहू ॥*
 (अयोध्या काण्ड, 1/3-4)

वे दर्पण में देखते हैं कि कानों के पास के बाल सफेद हो गये हैं। वे विचार करते हैं कि मानो बुढ़ापा कह रहा है कि राम को युवराज पद देकर जीवन और जन्म को सफल क्यों नहीं कर लेते हैं!

समय के किस मोड़ में हमारी जिंदगी बदल जाये, इसका कुछ पता नहीं है। एक लेखक ने कहा है “आपकी जिंदगी एक मिनट में बदल सकती है?” यही घटना राजा दशरथ के जीवन में घटी, भर्तृहरि के जीवन में घटी, महावीर के जीवन में घटी, बुद्ध के जीवन में घटी, श्री कृष्ण के जीवन में घटी, रमण महर्षि के जीवन में घटी और राजा जनक के जीवन में घटी। यूं कहे तो दुनिया के जितने बदले हुए इंसान हैं सबके जीवन में एक मिनट का ही कमाल है। यदि हम चाहें तो हमारा जीवन भी एक मिनट में बदल सकता है। इसके लिए आवश्यकता है जागरूकता की, सजगता की। यदि हम सजग हैं, जागरूक हैं तो हमारी जिंदगी कब बदल जाये हमें पता भी नहीं चलेगा।

शंका समाधान

प्रश्न—वासुदेव प्रसाद, फारबिसगंज, बिहार

1. प्रश्न—क्या मुक्तात्मा पुनः शरीर में आती है और अपने शिष्यों को मदद करती है?

उत्तर—शरीर में पुनः आने का कारण अवशेष वासना है और मुक्तात्मा के पास कोई वासना नहीं, इसलिए मुक्तात्मा पुनः शरीर में नहीं आती। जब तक वासना है तब तक मुक्त नहीं और मुक्त है तो वासना नहीं। सारी वासनाओं का ज्ञान-वैराग्य द्वारा क्षय होने पर मुक्ति होती है, फिर देह में आने का कोई कारण नहीं।

किसी की किसी प्रकार की मदद शरीर द्वारा ही की जा सकती है और मुक्तात्मा के पास शरीर नहीं, शरीर न होने से मन-वाणी-इंद्रिय नहीं, फिर मुक्तात्मा किसी की किसी प्रकार मदद कैसे कर सकती है। जहां कहा जाता है कि मुक्तात्मा गुरु अपने शिष्यों की मदद करते हैं वह मिथ्या महिमा है और भीड़ बटोरने का साधन है।

2. प्रश्न—बीजक रमैनी प्रकरण की 50वीं रमैनी में कबीर साहेब ने कहा है—कहइत मोहि भयल युग चारी। समुझत नाहिं मोर सुत नारी। तो क्या कबीर साहेब चारों युगों से समझाते आ रहे हैं?

उत्तर—इस पंक्ति का सीधा-सपाट अर्थ तो यही है कि मुझे अपनी बात कहते हुए चारों युग बीत गये किन्तु मेरे पुत्र और पत्नी मेरी बातों को नहीं समझ रहे हैं। कबीर साहेब की पंक्तियों या उनके पदों का ऊपरी और सीधा-सपाट अर्थ करके ही लोग भ्रम में पड़ते हैं और अर्थ का अनर्थ करते हैं।

इस पंक्ति की पहली अर्धाली से यह अर्थ करने में सरलता होगी कि कबीर साहेब चारों युगों से अपनी बात कहते आ रहे हैं। परंतु ऐसा अर्थ करना मात्र भावुकता होगी। जो कबीर साहेब सबके पाखंडों एवं अंधविश्वासों का खुलकर खंडन करते हैं, जो धर्म के क्षेत्र में किसी प्रकार का पाखंड नहीं रहने देना चाहते, वे स्वयं अपने विषय में ऐसी पाखंडपूर्ण बातें क्यों कहेंगे कि मैं चारों युगों से अपनी बात कहते आ रहा हूं।

जो लोग कबीर साहेब को चारों युगों में अवतार लेकर आने वाला मानते हैं उन्हें इस पंक्ति की दूसरी अर्धाली की इस बात को भी मानना होगा कि कबीर

साहेब पत्नी-बच्चे वाले थे और वे कबीर साहेब की बात समझ नहीं रहे थे। परंतु कोई भी कबीर अनुयायी इस बात को स्वीकार नहीं करता कि कबीर साहेब पत्नी-बच्चे वाले थे। उनके पत्नी और बच्चे थे। सभी कबीर अनुयायी एक स्वर से यही स्वीकार करते हैं कि कबीर साहेब आजीवन बाल-ब्रह्मचारी विरक्त संत थे।

जो विद्वान नामधारी कबीर साहेब को गृहस्थ और पत्नी-बच्चे वाले मानते हैं वे इस चौपाई की दूसरी अर्धाली 'समुझत नाहिं मोर सुत नारी' का अर्थ करते हुए कहेंगे कि कबीर गृहस्थ और पत्नी-बच्चे वाले थे, क्योंकि वे स्वयं कह रहे हैं कि मेरे पत्नी-बच्चे मेरी बातों को नहीं समझ रहे हैं। परंतु ऐसे बुद्धि के भंडार (?) विद्वान क्या यह स्वीकार करेंगे कि कबीर साहेब के वे पत्नी-बच्चे चारों युगों में कबीर साहेब के साथ थे और क्या वे यह भी स्वीकार करेंगे कि कबीर साहेब चारों युगों में अवतार ले-लेकर आते हैं?

'कहइत मोहि भयल युग चारी' का यह अर्थ करना कि मैं चारों युगों से अपनी बात कहते आ रहा हूं, श्रद्धातिरेक है तथा श्रद्धानेषु शोभते है, तो 'समुझत नाहिं मोर सुत नारी' का अर्थ करना कि कबीर साहेब के पत्नी-बच्चे उनकी बात नहीं समझ रहे थे, बुद्धि का दिवाला निकल जाना है।

कबीर साहेब प्रायः लक्षणा, व्यंजना और अन्योक्ति में अपनी बात कहते हैं। इसीलिए उनकी वाणियों का अभिधा अर्थ करके लोग प्रायः भ्रम में पड़ जाते हैं। 'कहइत मोहि भयल युग चारी। समुझत नाहिं मोर सुत नारी।' इस पंक्ति का भावार्थ है कि मेरे जैसे लोग सब समय से, पुराकाल से संसार की असारता, भोगों की आपातरमणीयता की बातें समझाते आ रहे हैं, किन्तु मेरी पत्नी, मेरे बच्चे कहकर दुनियादारी में आसक्त लोग इस बात को नहीं समझते या नहीं समझ रहे हैं। या कबीर साहेब कहते हैं कि सत्य का संदेश देते हुए मेरे जीवन के चारों पन (चारों युग) बीत गये, परंतु मेरी पत्नी, मेरे बच्चे कहकर, दुनियादारी में डूबे लोग मेरी बातों को नहीं समझ रहे हैं।

कबीर साहेब का जन्म ज्येष्ठ पूर्णिमा वि.सं. 1456 और शरीरांत माघ सुदी एकादशी वि.सं. 1575 माना जाता है। वे चारों युगों में अवतार लेकर आते हैं यह श्रद्धातिरेक एवं मिथ्या महिमा है।

प्रष्टा—चमनभाई, धांगधा, सुरेन्द्र नगर, गुजरात

1. प्रश्न—आत्मा अजर, अमर, अविनाशी है तो क्या आत्मा की संख्या निश्चित है?

उत्तर—संसार में जो भी सत्तावान है, जिसकी सत्ता है उसकी संख्या निश्चित है, क्योंकि संसार में जो भी मूल तत्त्व है उसमें न एक नये कण का निर्माण होगा और न एक कण का विनाश होगा। मूल द्रव्य जितने हैं उतने ही रहेंगे, परंतु उनकी संख्या कितनी है कोई गिनकर बता नहीं सकता। न जड़ तत्त्वों के परमाणुओं की संख्या गिनकर बतायी जा सकती है और न चेतन जीवों की। इनकी संख्या निश्चित होते हुए भी यही कहना पड़ेगा कि ये असंख्य हैं।

2. प्रश्न—जीव का देहान्तर गमन किस माध्यम से होता है और अगली देह में जीव किस समय प्रवेश करता है?

उत्तर—जीव का देहान्तर गमन सूक्ष्म शरीर के माध्यम से होता है और माना जाता है कि वासनावशी जीव नर-नारी के संबंध काल में अगली देह में प्रवेश करता है, परंतु यह विषय इतना सूक्ष्म है कि इसके संबंध में निश्चितता के साथ कुछ कहा नहीं जा सकता। क्योंकि यह प्रत्यक्ष का नहीं अपितु अनुमान का विषय है और अनुमान में एक राय नहीं हो सकती है।

प्रष्टा—प्रेमानंद शर्मा, शाहपुर, गोरखपुर, उ. प्र.

1. प्रश्न—सभी धर्म-संप्रदाय वाले कहते हैं कि ईश्वर एक है तब उसके संबंध में अनेक मत क्यों?

उत्तर—क्योंकि सबके स्वभाव, संस्कार, रुचियां, मान्यताएं भिन्न-भिन्न हैं। सबका ईश्वर भिन्न देश-काल की उपज है। जिसने जैसा चाहा उस ढंग से ईश्वर का रूप गढ़ लिया है, इसलिए उसके संबंध में अनेक मत होना स्वाभाविक है। फिर जिस ईश्वर के लिए कहा जाता है कि वह सृष्टि का सर्जक, संचालक तथा पालक है वह प्रत्यक्ष का विषय न होकर अनुमान का विषय है, इसलिए उसके बारे में अनेक मत होगा ही। कोई दावे के साथ नहीं कह सकता कि मैंने ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा है, उससे मेरी मुलाकात हुई है और उसका स्वरूप इस प्रकार है। जिस ईश्वर के लिए कहा जाता है कि ईश्वर एक है, वह ईश्वर नियम है और नियम सबके लिए एक जैसा ही होता है। अतः प्रकृति के नियमों को समझें और जितना समझ पावें जीवन में उनका पालन करते चलें।

2. प्रश्न—क्या जड़ तत्त्वों का संचालन किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा किया जा रहा है?

उत्तर—जिस अदृश्य शक्ति से जड़ तत्त्वों का संचालन हो रहा है वह नियम है और उस नियम में जानने-समझने का कोई गुण-धर्म नहीं है। यह नियम जड़ तत्त्वों का अपना स्वभावसिद्ध गुण-धर्म है। उनकी स्वाभाविक शक्ति है। इस नियम को प्रकृति की कारण-कार्य व्यवस्था भी कह सकते हैं।

यदि नियम को छोड़कर जड़ तत्त्वों का संचालन किसी अदृश्य चेतन सत्ता द्वारा होता तो सब कुछ मंगलमय ही होता, परंतु ऐसा कहा है!

प्रकृति का विस्तार असीमित है और चेतन ज्ञान गुण संपन्न तथा अस्तित्व की दृष्टि से अनंत-असीमित होते हुए भी विस्तार की दृष्टि से सीमित है, तब एकदेशी-सीमित चेतन सर्वदेशी-असीमित प्रकृति का संचालन कैसे कर सकता है। प्रकृति जड़ जगत का संचालन कोई चेतन सत्ता नहीं कर रहा है, किन्तु प्रकृति अपने गुण-धर्मों-नियमों से स्वयं संचालित है।

प्रष्टा—सत्यबीर सिंह, द्वारका, दिल्ली

1. प्रश्न—अंतिम समय आने पर मनुष्य को साधनालीन होना चाहिए या अपने को किस स्थिति में लाने का प्रयत्न करना चाहिए?

उत्तर—अंतिम समय आने पर साधनालीन होने के बजाय आज साधना-परायण बनें। जो आज साधना-परायण नहीं हो सकता वह अंतिम समय में साधनालीन कैसे हो सकेगा। स्वस्थ अवस्था में या जीवन पर्यंत जो कुछ किया जायेगा उसी के संस्कार अंतिम समय में सामने उपस्थित होंगे।

साधना का अर्थ घर-द्वार छोड़कर किसी मठ-आश्रम या जंगल में जाकर धूनी लगाकर बैठ जाना या अमुक प्रकार का वेष बना लेना नहीं है किन्तु साधना है जहां पर हैं वहीं अपने कर्तव्य-कर्मों को करते हुए सबसे निष्काम, निस्पृह, अनासक्त होना और सब कुछ को क्षणभंगुर समझकर इंद्रिय-मन के विकारी विषयों का परित्याग कर मन को निर्मल निर्विकार बनाकर अंतर्मुख, आत्मलीन करना। हां, इसके लिए सेवा, सत्संग, स्वाध्याय, साधु-संगति का आधार लेकर रहना होगा और समय-समय से एकांत में बैठकर अपने मन-इंद्रियों को विषय-चितन-क्रिया से हटाकर आत्मचितन तथा मनोद्रष्टा का अभ्यास करते रहना होगा।

—धर्मन्द्र दास

माफ करना सीखें

लेखक—श्री वेन डब्ल्यू डायर

दुख देने वाले को माफ करना मुश्किल होता है। क्रोध, अपमान और बदले की भावनाएं रह-रहकर कचोटती हैं। अपने में अटकाकर रखती हैं। माफ न करना जहां हमें खुद में सीमित रखता है, वहीं माफ कर देना खुद से परे नई संभावनाओं तक ले जाता है। माफी देने के बाद एक कड़वा अनुभव हमारी यादों में सिर्फ एक विचार बनकर रह जाता है।

पहला कदम : रुकना जैसे ठहरा पानी

आपको हुआ एक कड़वा अनुभव कुछ समय बाद अतीत बन जाएगा। तो फिर उसे अपने मन-मस्तिष्क पर क्यों ओढ़े हुए हैं ? इससे आपका वर्तमान भी वैसा ही दुखमय हो रहा है। हम सबका जीवन एक नाटक की कहानी की तरह होता है, जिसका हर चरित्र महत्त्वपूर्ण होता है। वरना नाटक की कहानी पूरी कैसे होगी? नायक, खलनायक, अच्छे-बुरे सबको स्वीकार करते हुए अगले अध्याय में प्रवेश करें।

दूसरा कदम : खुद के जैसे बने रहने का वादा

एक वादा अपने आप से जरूर करें। वह यह कि चाहे कितनी भी कठिन परिस्थितियां आए, आप अपनी सकारात्मकता को प्रभावित नहीं होने देंगे। आपको जो दुख हुआ है, उसकी कड़वाहट निकालने के कई सकारात्मक तरीके हैं। डायरी लिखना, काउंसलिंग लेना, किसी से बात करना, अपना दुख बांटना आदि। लेकिन उस कड़वे अनुभव से अपने व्यक्तित्व को प्रभावित न होने दें। अपने कड़वे अनुभव को शांति पाने का माध्यम बनाएं।

तीसरा कदम : मन में क्रोध लेकर न सोएं

नेविले गोडार्ड ने कहा है कि एक व्यक्ति की अपने बारे में जो राय होती है, नींद के दौरान वह उसके अवचेतन मन में बैठ जाती है। जब मैं सोने के लिए जाता हूं तो मैं यह कभी नहीं भूलता कि मेरी नींद की दुनिया में नींद लेने से ठीक पहले के विचार राज करेंगे।

इसलिए सोने से पहले नकारात्मक अनुभव से दूर रहने के लिए मैं कुछ वाक्यों को दोहराता हूं—जैसे कि मैं शांत हूं, मैं संतुष्ट हूं आदि। कुछ समय बाद ही मुझे अनुभव होता है कि मेरे शरीर में इन भावनाओं की जो कमी थी, वह पूरी हो गई है। दूसरे दिन जब जागता हूं तो खुद को मुक्त पाता हूं।

चौथा कदम : दोष न दें, खुद को समझें

जब भी आप किसी के व्यवहार के कारण दुखी हों तो आपकी राय में जिससे आपको दुख पहुंचा है, उससे अपना ध्यान हटा लें। अपनी ऊर्जा उस दुख पर केंद्रित भले ही कर दें, लेकिन उस दुख का स्रोत बने व्यक्ति से उसे हटा लें। खुद को भी दोष न दें। बस उस अनुभव को कुछ दिन दें। खुद को बतायें कि इस दुनिया में आपको दुख पहुंचाने का अधिकार किसी को नहीं है। दूसरे को समझने के बजाय खुद को समझने पर ध्यान दें। जब आप अपने ऊपर दूसरों के प्रभाव को देखने का तरीका बदलने का निर्णय लेते हैं तो अपने कई उजले पक्षों को जानते हैं। तब माफी देना बहुत ही आसान हो जाता है।

पांचवां कदम : पानी की तरह सुखकारी

आसपास अपना प्रभाव डालने की जिद के बजाय पानी की तरह बनना सीखें। पानी की प्रवृत्ति होती है कि वह स्रोत फूटने की जगहें तलाशता है। विरोध की विचारधारा के प्रति सहनशील होकर अपने व्यक्तित्व के रूखे पक्ष को नरम और मधुर बनाएं। सुनना शुरू करें। अगर कोई राय देता है तो कुछ यूं उत्तर दें, 'मैंने ये तो सोचा ही नहीं। इस बारे में मैं जरूर सोचूंगा।' जब आप दखल नहीं देते और पानी की तरह धीरे-धीरे, नरमी से बिना बाधा बहते जाते हैं, तब आप स्वयं ही क्षमा हो जाते हैं। एक अभ्यास और करें। मन में खुद की पानी की तरह की छवि बनाएं। आंखें बंद करके इस जल को अपने स्व के रूखे और कठोर पहलुओं में प्रवेश कराएं।

जिनसे मतभेद हुआ, उनके दिल और जीवन में इस नरमी को बहने देने की कल्पना करें। इससे आप रिशतों का सकारात्मक पक्ष देखेंगे।

छठा कदम : अपमान को भूल जाएं

लाउज ने कहा है—किसी प्रहार का प्रत्युत्तर दयालुता से देने का खतरा किसी को तो उठाना ही होगा, वरना आक्रामकता कभी भी अच्छाई में नहीं बदलेगी। याद रखें कि कोई भी तूफान ज्यादा देर तक नहीं रहता। आक्रामकता का एक समय होता है, तो अच्छाई का भी। अपने अपमान को भूलकर इस दुश्क्र को बढ़ने से रोकना होगा।

सातवां कदम : करुणा व प्रेम का प्रसार

मैंने कई साल पतंजलि की शिक्षाएं पढ़ीं। उन्होंने कई हजार साल पहले ही यह कहा था कि जब हम दूसरों को हानि पहुंचाने वाले विचारों से खुद को दूर कर लेते हैं तो सभी शत्रु भाव से मुक्ति पा जाते हैं। मैंने जब भी खुद को क्रोध व आलोचना में जकड़ा हुआ पाया है तो मैंने प्रत्युत्तर में प्रेम-भाव दिखाया है, तो मुझे तुरंत ही आत्मिक संतोष का अनुभव हुआ है।

आठवां कदम : झगड़े को खत्म करें, ध्यान करें

झगड़े, विरोध, प्रतिशोध आदि को खत्म करने के लिए ध्यान का अभ्यास करें। ध्यान की अवस्था में खुद को किसी बड़े झगड़े का प्रेम और क्षमा की भावना से अंत करता हुआ देखें। यह प्रेम-भाव आपके विरोधी तक पहुंचेगा जरूर। आपका मौन परिचय यही हो कि—कुछ भी हो जाये, पर मेरा उत्तर प्यार ही होगा।

(साभार : हिन्दुस्तान, 6 जुलाई 2015)

पूरब ठाकुरद्वारा पच्छिम मक्का बना,
हिन्दू और तुरुक दुइ ओर धाया।
पूरब मूरति बनी पच्छिम में कबुर है,
हिन्दू औ तुरुक सिर पटक आया ॥
मूरति औ कबुर ना बोलै ना खाय कछु,
हिन्दू औ तुरुक तुम कहा पाया।
दास पलटू कहै पाया तिन्ह आपमें,
मुये बैल ने कब घास खाया ॥

जब जब मैं इस जग में आया

रचयिता—डॉ. अमृत सिंह

जब जब मैं इस जग में आया,
तब तब आकर धोखा खाया ॥
जाने कितने थाल सजाकर,
पुष्प चढ़ाकर, दीप जलाकर।
संध्या बेला करी आरती,
मंदिर में भगवान न पाया ॥

कहीं नगाड़े, कहीं जनाजा,
देख अद्भुत यहां तमाशा।
जनम-मरण का सतत झमेला,
कहीं दुखों का अंत न पाया ॥

बारबार आकर इस जग में,
भोगी विपदाएं पग पग में।
जाना जग की दुनियादारी,
किंतु स्वयं को जान न पाया ॥

रंग बदलते गिरगिट देखा,
प्रतिरूप उसकी मानव देखा।
देखे अनगिन विषधर लेकिन,
मानव से बड़ा न विषधर पाया ॥

भटका मन कितने दिन वनवन,
खोजा उसको क्षणक्षण कनकन।
जाना मैंने निज स्वरूप जब,
उसको अपने अंदर पाया ॥

चोला भया पुराना आज फटै कि काल ॥
आज फटै कि काल तेहु पै है ललचाना।
तीनों पन गे बीत भजन का मरम न जाना ॥
नख सिख भये सपेद तेहु पै नाहीं चेतै।
जोरि जोरि धन धरै गला औरन का रेतै ॥
अब का करिहौ यार काल ने किहा तगादा।
चलै न एकौ जोर आय जब पहुँचा वादा ॥
पलटू तेहु पै लेत है माया मोह जंजाल।
चोला भया पुराना आज फटै कि काल ॥

विरक्त जगत

संसार के भोगों को भोगते-भोगते तथा दुनियादारी की उलझनों में उलझते-उलझते कुछ सुज्ञ संस्कारी जीव संसार से उपराम हो जाते हैं और सबसे हटकर किसी ऐसे आधार-बिन्दु की खोज में पड़ जाते हैं जिसको पाकर जीवन में परम शांति का अनुभव हो।

वे संसार के भोगों से उदास हो जाते हैं। क्योंकि उन्होंने देख लिया है कि इंद्रियों के सारे भोग आपातरमणीय हैं। भोग केवल देखने में सुखद लगते हैं, किन्तु वे ही दुखों की जड़ हैं। इंद्रियों की उत्तेजना, नसों की झनझनाहट, मन की चंचलता और बुद्धि की विकृति—यही सब तो संसार के भोगों में है। मलिनता, पश्चाताप, पीड़ा, मोह, बेवकूफी के अलावा भोगों में क्या मिलता है! क्षणभंगुरता भोगों का स्वभाव ही है। भोग देखने में सुखद परन्तु स्वरूपतः दुखों की खानि हैं। अतएव कोई-कोई सुज्ञ संस्कारी जीव इनको त्यागकर सत्य की खोज में तत्पर हो जाते हैं।

उनके चित्त में निरंतर यही कौंधता है कि मैं कौन हूँ? जगत क्या है? मेरा और जगत का क्या सम्बन्ध है? इस सपना से क्या लेना-देना है?

हमारे पिता, पितामह, परपितामह आदि आज इस संसार में कहां हैं? बड़े-बड़े शूर-वीर, धनी-मानी, राजा-सम्राट जिनकी हांक से संसार कांपता था, उनका नामोनिशान नहीं है। कई बार जमीन की खुदाई में नगर तथा दुर्ग के अवशेष मिलते हैं परन्तु उनमें रहने वाले लोगों का इतिहास भी नहीं मिलता। यह काल का कराल गाल कैसा सबको चबा जाता है! हम थोड़े ईंट, पत्थर, लोहा, सीमेंट के मकान चुनाकर तथा कुछ सम्पत्ति बटोरकर फूले नहीं समाते। हम उन बच्चों से अधिक नहीं हैं जो धूल का मकान बनाकर उसके अहंकार में फूलते हैं और कहते हैं कि हमारे मकान में मत घुसना।

जिसके मन में विरक्ति आ जाती है, उसका मन संसार से निरंतर बेचैन रहने लगता है। उसका मन सबसे उचट जाता है। किन्तु उचट जाना, विरक्त हो जाना, केवल नकारात्मक है, यह केवल निषेधात्मक है।

हमारे जीवन में कुछ सकारात्मक एवं विधेयात्मक भी होना चाहिए। सबसे मन उचट जाये तो कहीं लगना भी चाहिए।

वह मुमुक्षु देखता है, सब कुछ नाशवान है, फिर किसमें मन लगाये! जिसका नाश न हो, जो हमसे कभी पृथक न हो, वही हमारे मन का निवास बन सकता है। परन्तु ऐसा क्या है!

उत्तम मुमुक्षु सच्चे सद्गुरु की खोज करता है। यदि सच्चे सद्गुरु मिल गये, तो उसको सुपथ मिल जाता है।

मुमुक्षु की योग्यता

मुमुक्षु की पहली योग्यता संसार से विरक्ति है। भोगों तथा सांसारिक प्रपंचों से दृढ़ उपराम हुए बिना कोई सच्चा मुमुक्षु नहीं हो सकता। जिसको विषय-वासना धधकती दावाग्नि के समान लगती है, वही वैराग्यपथ में टिक सकता है। वही वैराग्यपथ का सच्चा पथिक बन सकता है।

यह मनुष्य का स्वभाव है कि उसे जहां हानि मालूम होती है, वहां से वह जी-जान से हटता है और जहां लाभ मालूम होता है, वहां प्राणपण से समर्पित हो जाता है। वैराग्यपथ में ठहरने के लिए भोगों एवं प्रपंचों में हानि का ज्ञान होना चाहिए तथा निवृत्ति में लाभ का निश्चय होना चाहिए। स्त्री अपना जीवन पुरुष को तथा पुरुष अपना जीवन स्त्री को समर्पित कर देते हैं। लोग व्यापार में, कृषि में, नौकरी में अपने आप को समर्पित कर देते हैं, क्योंकि उन्हें उनमें लाभ निश्चय है। इसी प्रकार जिसे निवृत्ति में लाभ निश्चय हो जाता है, वह अपने आपको वैराग्यपथ में समर्पित कर देता है।

किसी भी दिशा में उन्नति करने के लिए समर्पण भावना महान बल है। समर्पण आधा तिहाई नहीं होता। समर्पण तो पूरा-का-पूरा होता है। जो खेती में समर्पित नहीं हो जाता, वह अच्छा किसान क्या बन सकता है! जो विद्याध्ययन में समर्पित नहीं होता, वह विद्वान क्या बन सकता है! जो डॉक्टरी में समर्पित नहीं हो जाता, वह अच्छा डॉक्टर क्या बन सकता है! जो वकालत में

समर्पित नहीं हो जाता, वह अच्छा वकील क्या बन सकता है! मुमुक्षु एवं शिष्य को अपने को शिशु बनाकर सद्गुरु की शरण में डाल देना पड़ेगा। कुछ बचाकर समर्पण नहीं होता। समर्पण तो समर्पण है। समर्पण के बाद कुछ अपना नहीं रहता। अन्य दिशा में तो व्यक्ति चाहे अपने को कुछ बचाकर समर्पित करे तो भी काम बन जाये, परन्तु अध्यात्मपथ में तो ऐसा नहीं चल सकता। उसे पूर्णतया सद्गुरु की शरण में समर्पित होना ही पड़ेगा।

कितने लोग बिना वैराग्य के, केवल देखा-देखी उत्साह में पड़कर या घर में झगड़ा हो जाने से कहीं जाकर सस्ते गुरु से साधु-वेष धर लेते हैं। यह बहुत खतरनाक है। बिना सच्चा वैराग्य उदय हुए घर नहीं छोड़ना चाहिए। जब अपने आप में आत्मविश्वास हो जाये कि अब ठीक है, तभी घर छोड़ना चाहिए। परन्तु घर छोड़ने के पहले सच्चे सद्गुरु की खोज कर लेनी चाहिए। कलह, धनाभाव, स्त्री-वियोग, देखा-देखी एवं हलका-फुलका उत्साह मात्र लेकर घर नहीं छोड़ना चाहिए। अन्यथा उनको पुनः घर में लौटना पड़ेगा या वेष में रहकर सड़ना पड़ेगा, भावुकता से काम नहीं चलता।

जो साधु मार्ग में आना चाहे, उसे इन बातों पर ध्यान देना चाहिए—

1. परिवार के मोह का त्याग करना

जो परिवार को छोड़कर पुनः उसी परिवार में मोह करता है, उसके हानि-लाभ के चक्कर में नाचता है, घूम-घूम कर घर-परिवार में रहा करता है, वह साधु-वेष को कलंकित करता है। परिवार में ही रहना था, उसी के मोह में पचना था, तो साधु-वेष धरने की क्या आवश्यकता थी! बिना साधु-वेष धरे ही घर में साधना की जा सकती है। जो बिना साधु-वेष धारण किये परिवार में रहकर साधना करता है, वह अधिक ऊंची दृष्टि से देखा जाता है और जो वेष धरकर परिवार में रहता है, वह सबकी नजर से गिर जाता है।

2. अहंकार का त्याग करना

अहंकार किसी को शोभा नहीं देता, फिर साधु के लिए तो वह कलंक ही है। विद्या, धन, जाति, अधिकार,

प्रतिष्ठा किसी वस्तु का अहंकार अपना ओछापन है। अहंकारी न शिष्य बन सकता है, न समर्पित हो सकता है और न साधुदशा में ठहर सकता है।

3. सहनशीलता रखना

भूख-प्यास, शीत-धूप, सुख-दुख, मान-अपमान जो सह नहीं सकता, वह किसी दिशा में सफल नहीं हो सकता फिर साधु दशा में कैसे निभ पायेगा! मोटा अन्न, साधारण कपड़ा, चटाई तथा सरस भोजन, उत्तम वस्त्र एवं गद्दे—जो सबमें समबुद्धि रखकर समयानुसार शांत भाव से बरत लेता है, वही साधक हो सकता है। भोजन-वस्त्र, आसन-बिस्तर में जो कष्टसहिष्णु होगा, वही साधक सुखी रह सकता है। जो प्रसन्नतापूर्वक सत्त्व और चबैना से भी पेट भर सकता है, एक दो दिन भूखा भी रह सकता है, अपमान सह सकता है, अपने सम्मान से उदासीन रह सकता है वही सच्चा साधक हो सकता है।

4. आज्ञाकारी होना

सद्गुरु या संतजन जो आज्ञा दें उसका पालन करना साधक का परम कर्तव्य है। बात न मानने वाला, मनमती व्यक्ति साधक नहीं बन सकता। संत-गुरुजन जिस बात की हिदायत करें, उसे ध्यान से सुनकर उसका पालन करना चाहिए। उनके डांट-गांस भी अमृतमय मानना चाहिए। साधक को समाज के नियमों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। सद्गुरु श्रीरामरहस साहेब ने कहा है—

*साधु सिखापन गुरु की मानै, गुरु साधुन के आज्ञाकारी ।
तेई मुक्ति पदारथ पावै, यमते रहनि निन्यारी ॥*
(पंचग्रन्थी)

5. निज दोष देखना

जो साधक दूसरे के दोषों को देखता रहेगा, वह कभी आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता। साधक वही हो सकता है जो निरंतर अपने दोषों को देखे और उन्हें निकाले। दूसरों की टीका-टिप्पणी करते रहने वाले लोग साधु दशा से हजारों कोस दूर होते हैं।

6. सेवा करना

जो साधक मोटा काम करने में अपनी तौहिनी मानते हैं, वे पूरे बेअकली हैं। साधक को चाहिए कि

वह भोजन बनाना, बरतन मांजना-धोना, लीपना-पोतना, लकड़ी चीरना, टट्टी-घर साफ करना, रोगी की सेवा करना या इससे भी अधिक मोटा काम करने का अवसर आ जाये, तो उसे उनमें तत्पर रहना चाहिए। बिना सेवा किये किसी का मन निर्मल नहीं हो सकता।

7. श्रद्धा एवं प्रेम

जो साधक सद्गुरु में तो प्रेम रखते हैं, उनकी बातें मानते हैं, परन्तु अन्य सन्तों की परवाह नहीं करते, उनका गुरु-प्रेम भी थोथा है, दिखावा का है। जिसको गुरु में सच्ची निष्ठा होगी, उसको सन्त में भी सच्ची निष्ठा होगी और जिसको इन दोनों में निष्ठा होगी उसे उसके सिद्धान्त में निष्ठा होगी।

8. स्वाध्याय करना

साधक को अध्ययनशील होना चाहिए। मन हरदम निराधार नहीं टिक सकता। उसे कुछ अवलंब देना चाहिए। सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय एक उत्तम आधार है। इससे ज्ञान की वृद्धि होती है तथा मन में पवित्रता आती है।

9. साधना करना

साधक को अपनी शक्ति के अनुसार कुछ समय के लिए एकांत होकर मन के निग्रह के लिए योग्यतानुसार साधना करना चाहिए।

सारतः बात यह है कि मुमुक्षु एवं शिष्य को निष्कल भावपूर्वक सद्गुरु की शरण में समर्पित होना चाहिए। निष्कपट समर्पण-भावना साधक एवं शिष्य की मुख्य योग्यता है। इसके आ जाने पर ऊपर की सभी बातें स्वयमेव आ जाती हैं।

सद्गुरु की योग्यता

सद्गुरु की मुख्य योग्यता है उसकी निष्काम-दशा। कलह-कल्पना, राग-द्वेष, अहंता-ममता एवं नाना कामनाओं में उलझा व्यक्ति गुरु कैसा! सद्गुरु श्री रामरहस साहेब कहते हैं 'जो स्व-स्वरूप बोध को प्राप्त कर अपने आप में स्थिर हो जाते हैं, कभी चंचल नहीं होते, स्वयं सदैव सुखी रहते तथा दूसरे को अपने सम्पर्क मात्र से सुखी कर देते हैं—उनको सद्गुरु कहना चाहिए।'।

गुरु बोधित निज थीर पद, डोले कतहूँ नाहिं।

आप सुखी दूसर सुखी, सद्गुरु कहिये ताहिं॥

(पंचग्रन्थी)

अखंड ब्रह्मचर्य, वैराग्य, त्याग तो सद्गुरु के सहज लक्षण हैं। उनमें रहनी की गम्भीरता होनी चाहिए। सच्चे सद्गुरु का हृदय मां के हृदय से भी अधिक स्नेहिल होता है। मां तो मोह-वश अंततः भावी स्वार्थ को नजर में रखते हुए बच्चे से प्यार करती है, परन्तु गुरु किसी स्वार्थ के बिना केवल शिष्य की उन्नति के लिए उसको प्यार देता है। अथर्ववेद में लिखा है—गुरु ब्रह्मचारी-शिष्य को अपने पास खींच लेने वाला होता है और अंततः उसे अपने गर्भ में ले लेता है। मूल वचन इस प्रकार है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।

(अथर्ववेद 11/5/3)

मां के गर्भ में स्थित शिशु न अलग से खाता है, न पीता है तथा न श्वास लेता है, अपितु माता का खाना, पीना, श्वास लेना ही उसका खाना, पीना एवं श्वास लेना है। इसी प्रकार दिव्य ज्ञान एवं दिव्य रहनी सम्पन्न सद्गुरु की शरण में सर्वतोभात्या समर्पित शिष्य गुरु द्वारा ही परिशोधित हो जाता है।

सद्गुरु दिव्य रहनी रूपी अमृत का व्यक्तित्व है जिससे अमृतरस निरंतर टपकता है तथा शिष्य समर्पण रूपी खुला पात्र है। जैसे खुले पात्र में ऊपर से टपकती हुई वस्तु अपने आप एकत्र हो जाती है, वैसे समर्पित शिष्य में सद्गुरु की दिव्य रहनी अपने आप आकर पूर्ण हो जाती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि शिष्य को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। समर्पण मामूली प्रयत्न नहीं है। समर्पण के बाद शिष्य के सारे अंग गुरु के संकेत पर चलने लगते हैं और वह पुरुषार्थ का मूर्तिमान स्वरूप हो जाता है। जो पुरुषार्थ गुरु में है वही सारा पुरुषार्थ शिष्य में भर जाता है।

पूर्ण जितेन्द्रपद, पूर्ण आत्मविजय एवं पूर्ण निष्कामदशा ही सद्गुरु पद है। किसी का आध्यात्मिक गुरु बन जाना हंसी-मजाक नहीं, जैसे कि बहुतायत गुरुओं ने समझ रखा है। गृहस्थों का गुरु बनना भी बहुत

मेहनत का काम है। स्वयं पूर्ण संयम में ठहरे बिना दूसरे को कोई क्या रास्ता दिखा सकता है! फिर विरक्तों का गुरु बनना तो बहुत ही उच्चकोटि की बात है।

किसी गुरु ने गृहस्थ को दीक्षा दे दी और उससे दूर चला गया। गृहस्थ शिष्य तथा गुरु का सम्बन्ध बहुत दिनों के बाद हुआ करता है, इसलिए इसमें कोई विशेष अड़चन नहीं पड़ती। जहां सकामी गुरु गृहस्थ भक्तों से ज्यादा सम्पर्क कर लेते हैं वहां भी सड़न आती है, परन्तु ऐसा चांस कम पड़ता है।

फलतः गृहस्थ शिष्य तथा गुरु का सम्बन्ध चल जाता है परन्तु विरक्त शिष्य बहुत आशा-उम्मीद लेकर गुरु की शरण में आता है। वह गुरु में उच्च रहनी देखने की आशा रखता है। वह अपना माना हुआ सब कुछ छोड़कर सदैव के लिए केवल गुरु की शरण में आ जाता है। यदि वह गुरु में ही नाना दुर्बलताएं देखता है, तो उसका मन उदास हो जाता है। संसार से भागकर तो वह गुरु के पास आया, अब गुरु के पास से भागकर कहां जाये! इसीलिए कितने साधक अपनी दुर्बलता से तथा कितने साधक गुरुओं के अधकचरापन के कारण हताश होकर गिरते देखे जाते हैं।

जितने जिज्ञासु घर त्यागकर विरक्ति में आते हैं, वे सबके सब उच्च कोटि के वैराग्य वाले नहीं रहते। उत्तम, मध्यम तथा निम्न सभी कोटि के साधक गुरु के पास आते हैं। गुरु का काम है उन सबकी परख करना। जो परखने में तत्काल कच्चा लगे उसे शीघ्र ही उसके घर लौटा देना चाहिए। शेष को ब्रह्मचारी रूप में अपने पास रखकर उनकी सब प्रकार से रक्षा करना चाहिए। विज्ञान कहता है कि शरीर के सारे परमाणु सात वर्ष में बदल जाते हैं। तो कम-से-कम सात वर्ष तक साधक को ब्रह्मचारी दशा में रखकर आगे योग्य देखने पर उन्हें साधु-वेष देना चाहिए। यदि इतने दिन पर भी कच्चा दिखे तो सात वर्ष पर भी साधुवेष नहीं देना चाहिए। उत्तम जिज्ञासु को भी देर में वेष देने से क्या हर्ज है! अतएव सात से आगे, आठ-दस वर्ष बढ़ा देना बुरा नहीं, किन्तु उसके पहले देना बुरा है। वैसे अपवाद हर नियम का होता है।

साधकों को बहुत काल तक साधुवेष बिना दिये रखने से उनमें जो अधकचरे होते हैं, वे तब तक घर लौट जाते हैं जिससे उनके द्वारा साधु-समाज को निंदा का पात्र नहीं होना पड़ता। दूसरी बात है कि जो साधक पास में रह जाते हैं, उनके भी स्वभाव जानने में आ जाते हैं। जो यह गुरुओं का 'चट्ट मंगनी पट्ट बियाह' की तरह शीघ्र-शीघ्र जिज्ञासुओं को साधुवेष देना है, साधुमर्यादा, साधुदशा के लिए महान घातक है।

गृहस्थ लोग बहुत बच्चे पैदा करने में वीर हैं, तथा शीघ्रतापूर्वक उनकी शादी करने में, तो गुरु लोग शीघ्रतापूर्वक साधु-शिष्य बनाने में वीर हैं। इन्हीं कारणों से गृहस्थी तथा विरक्ति दोनों की दशा बिगड़ती जा रही है। कितने गृहस्थ हैं, जो बच्चे पैदा करते जाते हैं चाहे उन्हें भोजन, वस्त्र, शिक्षा ठीक से नहीं दे सकें। इसी प्रकार अधिकतम गुरु ऐसे हैं जो साधकों को साधुवेष देते जाते हैं चाहे उन्हें शुद्ध स्नेह और शिक्षा न दे सकें और उनके तन-मन की रक्षा न कर सकें।

गृहस्थों को बच्चों का निभाना उतना कठिन नहीं है, जितना गुरुजनों को विरक्त शिष्यों का निभाना। गृहस्थ के यहां तो बच्चे स्वाभाविक पैदा होते हैं, किन्तु गुरु के पास शिष्य कल्याण के लिए अपनी रुचि से जाते हैं। यह स्वतन्त्र चुनाव है, समर्पण है।

जितना कठिन अपने आप को गुरु की शरण में समर्पित करना है, उतना ही कठिन, बल्कि उससे कठिन गुरु को पूर्णतया शिष्य का निभाना है। कितने गुरु शिष्य को तो समर्पित करवा लेते हैं, परन्तु पीछे से उसके जीवन के साथ खिलवाड़ करते हैं। विरक्तवेष देकर साधु बना लिये, परन्तु यदि उसे व्याधि हो जाये, तो समर्थ होने पर भी उस पर ध्यान नहीं देते। शिष्य का मन क्या है, उसकी चिंता किये बिना उससे लापरवाह रहते हैं।

माना कि शिष्य का कर्तव्य है कि वह गुरु के रुख को देखते हुए उसके अनुसार बरताव करे। परन्तु गुरु का भी कर्तव्य है कि वह शिष्य के हृदय की जांच करता रहे और शुद्ध स्नेहपूर्वक उस पर शासन करता रहे।

पिता और गुरु प्रायः समझते हैं कि लड़कों और शिष्यों से तानाशाही व्यवहार करने से तथा उन्हें हरदम

डांटते, गांसते एवं उनकी आलोचना करते रहने से वे सुधर जायेंगे, परन्तु यह उनकी महान भूल है। कटुता से कभी सुधार नहीं होता। सुधार के लिए शुद्ध स्नेह एवं प्यार चाहिए। हां, दृढ़तापूर्वक न्याय भी चाहिए।

जब तक विरक्त शिष्य और गुरु का पारस्परिक सम्बन्ध दीर्घकाल तक न हो, तब तक एक अजनबी-दिल व्यक्ति को साधुवेष देने का गुरु का क्या अधिकार है! गुरु को ब्रह्मचारी को अपना अंतरंग बनाना पड़ेगा, उसे ब्रह्मचारी को अपने पास रखकर उसके दिल में बैठना पड़ेगा। अच्छी तरह जांच-भाल कर सात-आठ या नौ-दस वर्ष के बाद वेष देना पड़ेगा, तब कहीं वह इस दिशा में सफल हो सकेगा। यदि गुरु इस ढंग से साधुवेष देगा, तो स्वाभाविक उसके पास वेष की बेकार भीड़ नहीं इकट्टी होगी और जो होंगे वे प्रायः ठीक-ठीक होंगे।

यह भी सच है कि बहुत वर्ष तक परख कर दिये हुए वेष भी विफल होते हैं, परन्तु इस दिशा में बहुत कम प्रतिशत गिरते हैं और जहां “आये, मूड़े सिद्ध” हैं, वहां की सड़न का ठिकाना नहीं है। विरक्त शिष्य का गुरु बनना मामूली बात नहीं है। सौ में से निन्यान्बे गुरु यदि विरक्त शिष्य बनाना छोड़ दें तो साधु समाज का कल्याण हो जाये। “बहुते योगी मठ उजाड़” वाली दशा हो गयी है। देश में थोड़े साधु रहें तो कोई हर्ज नहीं किन्तु अधिकचरे तथा भ्रष्ट वेषधारी का रहना बुरा है।

निन्यान्बे प्रतिशत से भी अधिक गुरु असंतुष्ट देखे जाते हैं। वे रात-दिन शिष्यों की आलोचना में रहते हैं कि शिष्य कहे में नहीं हैं। उनको यह होश नहीं है कि यह अपनी ही अयोग्यता का परिचय देना है। माना कि कोई शिष्य कहा न मानने वाला हो सकता है, परन्तु उसमें भी स्वयं ही सहनशील बनना पड़ेगा। जहां दस शिष्य हैं, वहां वे दस स्वभाव के होंगे ही। प्रेम के बल पर उन पर शासन करना तथा जो एकदम मनमती हो उससे अलग हो जाना ही गुरु का कर्तव्य है।

निरन्तर झीखने-खीजने और दुखी रहने वाला गुरु शिष्यों को क्या संतोष दे सकता है! गुरु सदैव संतुष्टात्मा होता है, “आप सुखी दूसर सुखी, सदगुरु कहिये ताहि।”

सारा संसार राग-द्वेष के ताप से तप रहा है। एक विरक्त सदगुरु की शरण ही शीतल छाया है। संसार से पीड़ित साधक वहीं छांव ढूंढने जाता है और यदि वहां भी उसे ताप दिखता है, या कहिए संसार से अधिक ताप दिखता है, तो फिर उसकी क्या दशा होगी! वस्तुतः सच्चे विरक्त सदगुरु की शरण में ही परम शांति है। गलत आदर्श तो वहां उपस्थित होता है, जहां पूर्ण वैराग्य दशा में ठहरे बिना लोग गुरु बन जाते हैं और संसार से प्राणी, पदार्थ एवं सम्मान पाकर मलिन अंतःकरण वाले हो जाते हैं। फिर उनके मन में राग-द्वेष का ही साम्राज्य हो जाता है।

सच्चे विरक्त सदगुरु, शिष्य रूपी पुत्रों के लिए स्नेहमयी मां होते हैं, रक्षक पिता और अनुशास्ता होते हैं। वे शिष्यों के परमाधार एवं सर्वस्व होते हैं। साधु-शिष्य के लिए विरक्त सदगुरु प्रायः हर मत एवं सम्प्रदाय में आज भी हैं। साधकों को निराश होने की आवश्यकता नहीं है, अपितु जिज्ञासु बनकर खोजने की आवश्यकता है।

साधु की योग्यता

साधु को इकला नहीं विचरना चाहिए। दो साधु तो अवश्य एक साथ होना चाहिए। साधु को सदगुरु की शरण में रहना ही निर्विघ्न है। वह गुरु के आदेशानुसार ही कहीं जाये, परन्तु दो साथ हों। मनमती साधुवेषधारी इकला या दुकला, चाहे जैसे विचरें, उनका पतन ही है। जो गुरु-न्याय-विरुद्ध होकर विचरते हैं, उन्हें केवल देह की आरामतलबी भटकाती है और ऐसे साधक अपनी दशा में कहां ठहर सकते हैं!

साधु दो प्रकार से रहते हैं, एक विचरणशील, दूसरे मठों में। तीसरे ऐसे भी रहते हैं जो कभी मठों में तो कभी विचरणशील। ये सभी ढंग ठीक हैं। जिससे जैसा बन सके वैसा रहे। आवश्यकता है अपनी वैराग्य-दशा को ठीक बनाये रखना।

विचरणशील साधुओं का काम है कि वे जिस गृहस्थ-भक्त के यहां जब रहें उसे अपनी सेवा के लिए पीड़ित न करें। भक्त अपनी खुशी से जितनी सेवा कर सके, उतने में संतुष्ट रहें। बल्कि अधिक आकर्षक

वस्तुओं से उदास ही रहें। साधु जब गृहस्थ के यहां जाये, तो वह उसके घर में ऐसी जगह आसन न लगाये जहां स्त्रियों का सम्बन्ध पड़ता है। उसे ऐसी जगह से अलग पुरुष सम्बन्ध वाले घर में आसन लगाना चाहिए।

विचरणशील साधुओं को चाहिए कि वे भोजन-जलपान लेने तथा सत्योपदेश देने के लिए ही गृहस्थ-भक्तों में बैठें या उनसे सम्बन्ध जोड़ें। जो साधु इन हेतुओं के बिना, व्यर्थ ही गृहस्थों के बीच समय बितायेगा, वह निश्चित ही प्रपंची होकर राग-द्वेष का शिकार होगा। क्योंकि गृहस्थ हर समय सत्योपदेश नहीं सुन सकते, फिर वे अपना प्रपंचोपदेश साधु को सुनायेंगे, और धीरे-धीरे उसमें लिप्त होकर साधु का मन वैराग्य से ठंडा हो जायेगा। ऐसी दशा में वह साधु फिर गृहस्थों का ब्रह्मभाजन भी नहीं रह सकता।

विचरणशील साधु गृहस्थ भक्तों के यहां जाकर उनकी स्त्रियों के बीच में रहने, उनसे बात करने, उन्हें अलग से ज्यादा उपदेश देने के प्रलोभन में न पड़ें। सामूहिक शिक्षा में बैठे हुए नर-नारी सभी सत्योपदेश ग्रहण कर सकते हैं। विरक्त साधुओं का स्त्रियों से ज्यादा सम्बन्ध रखना, उनका अपना पतनपथ प्रशस्त करना है। गृहस्थों के घर में कुछ स्त्रियां अधिक भक्ति-भाव सम्पन्न होती हैं तथा जगह-जगह साधिकाएं—ब्रह्मचारिणियां भी होती हैं, जो अधिक भावना रखती हैं, ऐसी जगह विरक्त साधकों को और अधिक सावधान रहना चाहिए। स्त्रियों का कोमल व्यवहार मूर्ख मन को बड़ा अच्छा लगता है और इसी में कहीं-न-कहीं फिसलने की सम्भावना भी हो सकती है। स्त्री के लिए पुरुष तथा पुरुष के लिए स्त्री विरोधी आलंबन हैं। विरोधी आलंबन ही पतन की जगह है। कुसंग में एवं विरोधी आलंबन में पड़कर जब मन में मोह उत्पन्न होगा, तब हजार ज्ञान-वैराग्य की युक्तियां भूल जायेंगी और साधक-साधिका अपना पतन कर लेंगे। निर्बल साधक-साधिका भी विरोधी आलंबन से रहित रहकर अपनी साधना एवं वैराग्य में जीवन भर टिके रह सकते हैं और बलवान लोग भी कुसंग में पड़कर बह सकते हैं। साधक-साधिका के लिए कुसंग एवं विरोधी आलंबन का त्याग परमावश्यक है।

यह ठीक है कि स्त्री-पुरुष दोनों के आत्मा एक समान शुद्ध चेतन हैं, परन्तु देह दोनों की भिन्न और अनादि अज्ञानवश एक दूसरे के लिए भ्रम उत्पादक हैं। इसलिए परस्पर के संग-दोष से रहित रहकर ही साधना में टिके रहना संभव है। उन कलुषित तथाकथित गुरुओं की बातें छोड़ दीजिए जो वाणी के तो सागर हैं, परन्तु पतित हैं और स्त्री-पुरुष के अभेद बरताव के समर्थक हैं। जिसे संभोग में समाधि दिखती हो, ऐसे शूकर-कूकर की मनोवृत्ति वाले पतितों की घातक वाणियों से साधकों को अत्यन्त सावधान हो जाना चाहिए।

मठाधीश साधु, महन्तों को चाहिए कि वे अपने मठों में साधुनी, भक्तिनि, ब्रह्मचारिणी, दासी, नौकरानी किसी नाम से भी स्त्री न रखें। मठों में चौका-बरतन, कूट-पीस आदि सारे कार्य मठ के साधुओं को ही करना चाहिए। यदि बड़ा मठ हो और नौकर रखना पड़े, तो कम-से-कम मठ के अन्दर के काम के लिए पुरुष नौकर रखना चाहिए, स्त्री कदापि नहीं। और मठ के साधुओं को चाहिए कि वे पुरुष नौकरों से केवल काम लें तथा उन्हें उनका उचित वेतन दें। वे नौकरों से घुलें-मिलें नहीं।

किसी भी प्रकार की स्त्री चाहे वह भक्तिनी हो, ब्रह्मचारिणी हो या साधिका—बिना उसके पुरुष अभिभावक (गार्जियन) के आश्रम में प्रवेश निषिद्ध हो। पुरुषरहित स्त्री अतिथि को मठ में न आसन देना चाहिए और न रात बसाना चाहिए। यहां कोई स्त्रियों के लिए द्वेष की बात नहीं है, किन्तु सबकी मर्यादा, चरित्र-रक्षा आदि के लिए है। ज्यादातर शहरी मठों में स्त्रियां अधिक उपदेश सुनने आती हैं, क्योंकि उनके पुरुष उस समय दफ्तर एवं कारखानों में काम करते हैं। ऐसी स्थिति में ऐसा सम्बन्ध होना चाहिए कि वहां चार-छह गृहस्थ पुरुष अवश्य हों और उपदेश सुनकर स्त्रियां वहां से अपने घर चली जायें। स्त्रियों की कोमल सेवा सबको प्रिय लगती है और इसमें कितने साधक रसातल चले जाते हैं। कहीं साधिका स्त्रियों का मठ हो सकता है। पुरुष साधु को उससे दूर रहना चाहिए तथा वहां पुरुषों का निवास सर्वथा वर्जित होना चाहिए।

विचरंत साधु हो या मठाधीश, उसे हर जगह सेवा, स्वाध्याय तथा साधना में लगे रहना चाहिए। विचरण में तथा मठों में व्यवहार बरतने तथा धर्माचार के कुछ नियम होना चाहिए। मठों में वर्ष में अनेक बार सार्वजनिक धर्म-उपदेश, गोष्ठी आदि का विधान होना चाहिए। वर्ष में एक बार विशाल धार्मिक अधिवेशन एवं जलसा होना चाहिए।

मठों की दशा

आज भी भारत में अनेक सम्प्रदायों के ऐसे मठ हैं जहां से अन्नदान, द्रव्यदान, ज्ञानदान, उपासनादि धार्मिक कार्य, साहित्य का प्रकाशन, सार्वजनिक चिकित्सा आदि लोकमंगल के कार्य होते हैं और उनसे देश का तथा साधक-जगत का बड़ा हित है। मठों की यही सच्ची उपयोगिता है।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि अनेक मठ ऐसे होते हैं जिनके महंत उसे अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानते हैं और वे उसे अपने मौज-शौक में खर्च करते हैं। कितने महंत तो कामिनी-कांचन ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं। कितने बड़े-बड़े मठ केवल कलह तथा विषय-वासना के घर बने हुए हैं। यह कितना दुखद है! जनता इनसे कौन-सा आदर्श लेगी!

मठाधीशों को चाहिए कि वे मठ तथा मठ की सारी सम्पत्ति सार्वजनिक समझें, जैसा कि वह है। भूतकाल या वर्तमान के भक्तों ने ही उस सम्पत्ति का दान कर मठ को सम्पन्न किया है। उन भक्तों का इसमें यही लक्ष्य रहा है कि मठ के महंत तथा साधु उस सम्पत्ति के ट्रस्टी मात्र अपने को समझ कर उससे समाज की सेवा करें।

साधु के लिए सर्वसामान्य बातें

गुरु हो या शिष्य, साधक हो या सिद्ध, महंत हो या उसके मातहत—विरक्त साधुओं की परम सम्पत्ति है वैराग्य। उसे शुद्ध ब्रह्मचारी होना चाहिए। वह विद्वान हो या न हो, किन्तु वैराग्यवान अवश्य हो। वैसे साधु को वैराग्यवान होने के साथ विद्वान भी होना चाहिए। साधु का अपनी साधना के बाद लोक के लिए मुख्य काम है—सत्योपदेश देना और किसी भाषा में जब तक वह

परिमार्जित रूप से नहीं बोल सकता, तब तक श्रोता का मन उसके उपदेशों पर नहीं जमता। विद्वान होने से शास्त्रों में भी पैठ हो जाती है जिनके अध्ययन-श्रवण से वह बहुज्ञ एवं बहुश्रुत हो जाता है। प्रवक्ता की ज्ञान-सम्पत्ति जितनी बड़ी होगी, श्रोता को वह उतना ही संतोष दे सकेगा। बहुज्ञ एवं बहुश्रुत साधु उदार हो जाता है। वह भिन्न विचारों को सहने तथा उसका समन्वय करने में समर्थ होता है। बहुज्ञता अपने कल्याण के लिए भी हितकर है, यदि साधना एवं रहनी की दृष्टि हो। अतएव साधु को वैराग्यवान होने के साथ, विद्वान भी होना चाहिए।

यहां विद्वान होने का अर्थ न तो कालेज में पढ़े हुए होने से है न डिग्री धारण करने से। व्यक्ति सत्संग तथा निरंतर के स्वाध्याय से विद्वान अर्थात् अपने काम की प्रायः सारी बातों का ज्ञाता हो सकता है, केवल उसका दिशा-निर्देशक गुरु होना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि स्वाध्याय जो ज्ञान एक वर्ष में दे सकता है वह विश्वविद्यालय की पढ़ाई दस वर्ष में नहीं दे सकती।

अन्ततः तो साधु विद्वान हो या न हो, उसमें वैराग्य एवं साधु की रहनी होनी चाहिए। उसी से उसका तथा जगत का हित है। गुरुदेव कबीर का कहना है—

साधु होना चाहिये, पक्का हूँ के खेल।
कच्चा सरसों पेरि के, खरी भया न तेल ॥

(बीजक, साखी 280)

साधु ऐसा चाहिए, दुखै दुखावै नाहिं।
पान फूल छेड़े नहीं, बसै बगीचा माहिं ॥
साधु कहावन कठिन है, लम्बे पेड़ खजूर।
चढ़े तो चाखै प्रेमरस, गिरै तो चकनाचूर ॥
निबैरी निहकामता, स्वामी सेती नेह।
विषया सो न्यारा रहे, साधुन का मत येह ॥
साधु सोई जानिये, चलै साधु की चाल।
परमारथ राता रहै, बोलै बचन रसाल ॥
आशा तजि माया तजै, मोह तजै अरु मान।
हरष शोक निन्दा तजै, कहैं कबीर सन्त जान ॥

(साखी ग्रंथ)